भूमिका

आलोचना साहित्य का एक विशिष्ट अंग है। इसकी विभिन्न शैलियों से परिचित होने पर कवि तथा लेखक की विचार-धारा का रसास्वादन करने में विशेष सहायता मिलती है। हिन्दी में आलोचना साहित्य की इस समय कई शैलियाँ प्रचलित हैं। उन में से कौन उत्कृष्ट है और कौन निकृष्ट; किसे अपनाना चाहिए और किसे नहीं, इसकी विवेचना करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। हमें यहाँ केवल इतना ही बताना है कि किसी कवि अथवा लेखक की रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने के लिए हमें उसके जीवन के भीतर घुसकर यह देखना चाहिए कि उसे साहित्य-साधना की प्रेरणा किन परिस्थितियों के कारण प्राप्त हुई और वह उन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी कला और अपनी विचार-धारा को विकसित करने में कहाँ तक सफल हुआ है। इतना ही नहीं हमें इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि वह वाह्य प्रभावों से कहां तक प्रभावित हुआ है और उसके कारण उसकी रचनाओं में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। जब तक हम इन बातों पर, इन वाह्य तथा अभ्यान्तरिक कारणों पर, पैनी दृष्टि से विचार न करेंगे तब तक साहित्यकार का वास्तविक रूप हमारे सामने नहीं आयेगा। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ आलोचक पहले से अपना एक मापदण्ड, एक कसौटी बना लेते हैं और फिर उसी के अनुसार किसी लेखक अथवा कवि की रचनाओं को नापते और कसते हैं। इसलिए वह अपनी आलोचना में उस कलाकार के प्रति कभी-कभी अन्याय कर जाते हैं। वस्तुतः आलोचना की यह शैली ठीक नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक इन सब बातों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसमें भक्ति तथा रीतिकाल के आठ

कवियों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। प्रत्येक प्रमुख कवि का जीवन-परिचय देने के पश्चात् उसके समय पर प्रकाश डाला गया है और फिर उसकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देकर भाव और कला पक्षों पर विचार किया गया है। इस प्रकार पुस्तक यथाशक्ति उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। इस सम्बन्ध में हमें यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होती कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभदायक है।

इस पुस्तक की रचना में हमें प्रायः उन सभी आलोचकों की अमूल्य रचनाओं से सहायता लेनी पड़ी है जिन्होंने कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण और देव पर अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। अतः हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। श्रद्धेय भाई सुमन जी ने पाण्डुलिपि का संशोधन किया है और अपनी देख-रेख में इसे प्रकाशित कराया है। अतः हम उनके प्रति भी अपना आभार प्रकट करते हैं। आशा है, विद्यार्थियों को यह पुस्तक पसन्द आयेगी और इसके द्वारा उनमें आलोचना के प्रति अनुराग उत्पन्न होगा।

भगवत क्वारटर्स,
अतरसुइया, प्रयाग
३-६-४७

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-क्रम

प्राचीन कवियों की काव्य-साधना

[भक्ति और रीतिकाल के आठ प्रमुख कवियों की आलोचना]

१. संत कबीर

जन्म संवत्–१४५५ मृत्यु संवत्–१५७५

संत कबीर का जन्म कब और कहाँ हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कबीरपंथियों का विश्वास है कि वह ज्योति-स्वरूप होकर लहरतारा के कमल-पत्र पर अवतीर्ण हुए थे। इसी प्रकार उनमें यह भी किंवदन्ती है कि उनका जन्म स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। उस विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लज्जा के भय से उन्हें लहरतारा तालाब के निकट फेंक दिया। संयोगवश नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उसी मार्ग से जा रहा था। नीरू सन्तानहीन था, अतएव उसने नवजात शिशु के करुण क्रन्दन से द्रवीभूत होकर उसे उठा लिया और पुत्रवत् उसका पालन-पोषण किया। परन्तु इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार उनकी जन्म-तिथि ज्येष्ठ अमावस्या सम्वत् १४५५ मानी जाती है और यह अनुमान किया जाता है कि वह मगहर के एक मुस्लिम जोगी-परिवार में उत्पन्न हुए थे। जो भी हो, इस में सन्देह नहीं कि वह सिकन्दर लोदी के समय में जीवित थे और कपड़ा बुनकर अपनी जीविका चलाते थे।

कबीर का जीवन-परिचय

कबीर बाल्यावस्था से ही भावुक थे। जोगियों के परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी भावुकता और सहज धार्मिक भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। वह साधु-सन्तों के साथ रहने लगे और उनके उपदेशों से लाभ उठाने लगे। इसी धर्मानुराग के कारण हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने काशी में स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार की। ऐसा करना उनके लिए आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि उस समय गुरुहीन उपदेशक पर लोगों की श्रद्धा नहीं होती थी। इसीलिए गुरु न करने पर जब कबीर भजन गा-गाकर लोगों में अपने उपदेशों का प्रचार करने लगे तब वह 'निगुरा' कह कर सम्बोधित किये जाने लगे। इस 'निगुरी' पूर्वावस्था के सम्बन्ध में कबीर लिखते हैं :

जब कबीर हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं।
गुरु को जब तें देखिया, गावन को कछु नाहिं॥

कबीर के परिवार में स्त्री और पुत्र थे। उनका गार्हस्थ्य-जीवन में विश्वास था। उन्होने लोई नाम की एक स्त्री से अपना विवाह किया था और उससे कमाल नाम का एक पुत्र और कमाली नाम की एक पुत्री थी। कबीर-पंथी साधुओं का कथन है कि लोई उनकी शिष्या मात्र थी, पत्नी नहीं। वह एक बनखंडी वैरागी को पोष्य पुत्री थी जिसे उसने लोई (ऊनी चादर) में लिपटा हुआ पाया था। कबीर की भक्ति-भावना देखकर वह उनके साथ रहने लगी थी। परन्तु इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

कबीर को भाषा का साधारण ज्ञान था। उन्होंने किसी शास्त्र विशेष का अध्ययन नहीं किया था। उनके ज्ञान का साधन था जीवन की खुली पुस्तक। भ्रमण तथा साधु-सन्तों के सत्संग से उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया, उसपर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर अपना लिया। इसीलिए कबीर की रचनाओं में उनका एक निजत्व है और हम उन्हें सत-युग के आदि काल में बेजोड़ पाते हैं। कबीर निर्भीक सन्त थे। वह सब की सुनते थे, परन्तु करते अपने मन की थे। अपने

इन्हीं निर्भीक धार्मिक विश्वासों के कारण उन्हें तत्कालीन लोदी सम्राट सिकन्दर से संघर्ष लेना पड़ा।

कबीर की मृत्यु सम्वत् १५७५ में मगहर में हुई। कबीरपन्थियों का कहना है कि जब उनके शव को हिन्दुओं ने जलाना तथा मुसलमानों ने दफ़नाना चाहा तब वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ फूल बच रहे। इन फूलों को हिन्दू तथा मुसलमान शिष्यों ने आपस में बाँट लिया। यह किंवदन्ती भी निराधार और ऐतिहासिक प्रमाण-रहित है। इस समय मगहर में उनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि और एक मक़बरा बना हुआ है।

कबीर की रचनाएँ

कबीर ने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। अपने को कवि घोषित करना उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उन के शिष्यों ने उनके उपदेशों का संकलन किया। यह संकलन बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं—साखी, सबद और रमैनी। इन रचनाओं के अतिरिक्त ऐसे अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं जिनमें कबीर के उपदेश मिलते हैं, परन्तु उनकी भाषा इतनी अशुद्ध है कि सहसा उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इन में बहुत से पद तो ऐसे मिलते हैं जो कबीर के नाम से उनके शिष्यों ने लिख दिये हैं। इस समय कबीर की कविता के कई संग्रह मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर की रचनाओं पर अभी कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

कबीर का समय

कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने से कबीर के समय का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। हम को यह ज्ञात हो जाता है कि कबीर ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जब चारों ओर न्यूनाधिक शान्ति स्थापित हो चुकी थी। भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो चुका था और लोग अपनी परिस्थिति से अनुकूलता प्राप्त करते जाते थे। साधारण मुसलमान लड़ाई-झगड़ों से ऊब गये थे। वे भारतीय जनता के सम्पर्क में आकर

उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में भी परिवर्तन हो चला था। वे समझ गये थे कि जो मुसलमान यहाँ आ गये हैं, अब जाने वाले नहीं हैं। इसलिए उनसे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वे उत्सुक थे। इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम हिन्दू-धर्म का विरोधी था, उसे राज्य-संरक्षण प्राप्त था और इस कारण शासकों पर उलमाओं तथा मौलवियों का इतना अधिक प्रभाव था कि पग-पग पर हिन्दू जनता को साम्प्रदायिकता की भयानक ज्वाला में अपने जीवन और धार्मिक विश्वासों की आहुति देनी पड़ती थी; फिर भी दैनिक जीवन की अशान्ति उन्हें असह्य थी। वे चाहते थे मिल-जुलकर रहना। हिन्दू और मुसलमानों की इस मनोवृत्ति का नेतृत्व कुछ अंशों में तत्कालीन सूफी मत के संचालकों ने किया। उनकी प्रेममयी वाणी, उनकी सहनशीलता तथा उनकी शान्ति-प्रिय और अध्यात्मिक दृष्टि ने पारस्परिक विरोध का न्यूनाधिक अन्त अवश्य किया। यह बात दूसरी है कि उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। सूफी मत हिन्दुओं के धार्मिक विचारों के अधिक निकट था, परन्तु उसमें हिन्दुओं के लिए इस्लाम पर श्रद्धा रखने की प्रेरणा भी थी, अतएव हिन्दू-समाज के लिए वह सफल न हो सका। हिन्दू मिल-जुलकर रहना चाहते थे, पर अपना धर्म खोकर नहीं। मुसलमानों की भी यही प्रवृत्ति थी। दोनों में से कोई भी अपना अस्तित्व खोने के लिए तत्पर न था। इतना ही नहीं, हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक विरोध के कारण धर्म के बाह्याडम्बरों की उनमें अत्यधिक वृद्धि भी हो गई थी। हिन्दुओं में छुआ-छूत का प्रश्न जटिल होता जा रहा था और धर्म के दार्शनिक तत्त्वों की अवहेलना हो रही थी। अन्धविश्वास तो इतनी मात्रा में बढ़ गया था कि सत्य ही उन्हें असत्य भासित होता था। धार्मिक साहित्य की समस्त रचना संस्कृत में होने के कारण साधारण जनता उससे लाभ उठाने से वञ्चित थी। मुसलमानों का भी यही हाल था। वे भी अपने धर्म के सच्चे रहस्य को भूलकर कृत्रिम

उपायों का सहारा ले रहे थे। उनके धार्मिक जीवन में बनावट आगई थी। एकेश्वरवादी होकर भी वे एकेश्वरवादी नहीं रह गये थे। ऐसी स्थिति में दोनो संप्रदायों के धार्मिक संस्कारों के परिष्कार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। इन परिस्थितियों का नेतृत्त्व किया संत कबीर ने अपनी अमृतमयी वाणी से।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्त्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा थे, स्रष्टा थे, युगप्रवर्तक थे।

कबीर का महत्व

उन्हों ने समाज की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखंड-रहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। भक्त कवियों की विनयशीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात-रहित आलोचना की। उन्हों ने जहाँ परम्परागत हिन्दू धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया वहाँ भारत में जड़ पकड़ने वाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में आलोचना की। इस प्रकार उन्हों ने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया और एक ऐसे सम्प्रदाय का सूत्रपात्र किया जिसे हम संत-मत कहते हैं। इस मत ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवनमय बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तः प्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे उन्हें, कबीर की पक्षपातरहित वाणी से, अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनमें हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की

स्थापना की। उनका संतमत सब के लिए था। उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त था। कबीर का धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखंड न हो। हिन्दू धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र समान थे। अपनी इसी समदृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में अपने गुरु रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय थे। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे। कबीर व्यावहारिक थे। इसीलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में कबीर का महत्त्व उनके समत्व-भाव के सिद्धान्त के कारण था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के कलाकार थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धर्म-सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया, वरन् अपने धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार उन्हों ने समाज का निर्माण किया। इसीलिए कबीर सब से पृथक हैं। उनके सिद्धान्त अछूते हैं, उनकी विचार-धारा अछूती है। उन्हों ने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से, इस प्रेरणा से कि सत्पुरुष का सन्देश लोगों तक किस प्रकार पहुँचाया जाय। इसीलिए वह संत पहले और कवि बाद को हैं। कबीर में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान है, काव्य-गत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये चित्र-कारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया।

वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलंकारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन है, आत्म-विश्वास की अद्भुत आभा है।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्त्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सब से पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्त्व बढ़ा दिया। इसका फल यह हुआ कि भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर पर प्रभाव

कबीर मुसलमान थे। उनका जन्म एक मुस्लिम-परिवार में हुआ था, परन्तु उसमें इस्लाम की छाप नाम मात्र के लिए थी। वह वास्तव में उन हिन्दू योगियों का परिवार था जो गृहस्थ थे और जिनका पेशा जुलाहे और धुनिये का था। उनमें जो साधु हुआ करते थे वे केवल भिक्षा-वृत्ति पर निर्वाह किया करते थे। तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म में उनका कोई स्थान नहीं था। अतएव मुसलमानों के आगमन के पश्चात् वे धीरे-धीरे मुसलमान हो गये। परन्तु मुसलमान होने पर भी वे अपनी भावनाओं से भिन्न नहीं हुए। ऐसे परिवार में जन्म लेकर कबीर मुसलमानी संस्कारों से अधिक प्रभावित न हो सके। इसीलिए उनकी रचनाओं में हमें इस्लामी भाव की क्षीण रेखा मिलती है। इस्लाम-धर्म की अपेक्षा वह हिन्दू-धर्म के अधिक निकट ज्ञात होते हैं। उनकी रचनाओं में उनका दृष्टिकोण भारतीय अधिक है, इस्लामी कम।

उनके दृष्टिकोण का बौद्ध-धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों के पदादि से सीधा सम्बन्ध है। कबीर ने अपनी रचनाओं में उन्हीं पदों, उन्हीं राग-रागिनियों, उन्हीं दोहों और उन्हीं चौपाइयों का सहारा लिया है जो उक्त मत के सन्तों की रचनाओं में मिलती हैं। कबीर की शैली भी उन्हीं सन्तों की शैली है। उनकी भाँति कबीर भी शून्य में समाधि लगाने का आदेश देते हैं, नाना मतों का खंडन करते हैं, गुरु का महत्त्व स्थापित करते हैं। सहजयानी सिद्धों और नाथ पंथी योगियों का अक्खड़पन उनमें भी समानरूप से मिलता है। परन्तु उन सब पर कबीर के व्यक्तित्व की ऐसी प्रगाढ़ छाप है जो कबीर को उनमें मिलने नहीं देती। कबीर ने सब को पचा कर अपना बना लिया है। जहाँ उनमें पूर्ववर्ती सन्तों का अक्खड़पन है वहाँ उसके साथ ही उनका फक्कड़पन इतनी अधिक मात्रा में घुलमिल गया है कि कबीर उनसे प्रभावित ही नहीं जान पड़ते। पूर्ववर्ती साधकों के पारिभाषिक शब्दों को भी उन्हों ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया। कबीर की वाणी पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप स्पष्टरूप से दिखाई देती है। इसी प्रकार सहज शून्य, षट्-चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि कबीर के लिए अपना निजी महत्त्व रखते हैं। कबीर के साहित्य में उनका पृथक महत्त्व है। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्हों ने अपने ढङ्ग पर व्याख्या की थी।

कबीर निर्गुणवादी थे; परन्तु उनके निर्गुणवाद पर न तो हिन्दुओं का प्रभाव है और न मुसलमानों का। उनके निर्गुणवाद में न तो मुसलमानों के अल्लाह को स्थान प्राप्त था और न हिन्दुओं के राम को। वह कहते है :—

> सुर-नर, मुनि-जन औलिया, ए सब उरली तीर।
> अलह राम की गम नहीं, तँह घर किया कबीर॥

कबीर साधना को सहज भाव से देखना चाहते थे। दैनिक जीवन के साथ वह चरम साधना का विरोध नहीं चाहते थे। इसलिए

उनके विचारों के अनुसार घर-बार छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह स्वयं गृहस्थ थे। अवकाश मिलने पर कपड़ा बुनते थे और अपनी जीविका चलाते थे। उपासना के लिए उन्हों ने वन का मार्ग नहीं ग्रहण किया। सारांश यह कि दैनिक जीवन से उनकी साधना का कोई विरोध नहीं था। यही कबीर का सहज पंथ था। इस पन्थ पर उनके सिद्धान्तों की छाप थी। वह सर्वथा नवीन था।

हम यह बता चुके हैं कि कबीर निर्गुणवादी थे, परन्तु उनका निर्गुणवाद नीरस नहीं है। उसमे ठोस रूप की उपासना भी नहीं है और नीरस निर्गुणवाद की रुक्षता भी नहीं है। उनके भगवान न तो पूर्णतया ससीम हैं और न पूर्णतया असीम। असीम और ससीम के बीच उन्होंने अपने भगवान को प्रतिष्ठापित किया है। उनका विश्वास सीमा मे असीम को और असीम मे सीमा को पाने के लिए व्याकुल है। इस व्याकुलता की कल्पना कबीर की अपनी कल्पना है। अन्य सन्तों से कबीर इस क्षेत्र में भी अपना निजी महत्त्व रखते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर अपने प्रत्येक क्षेत्र मे चिरनवीन हैं। वह किसी का अन्धानुकरण नहीं करते। वह सब को सुनकर उस-पर अपना रंग चढ़ा देते हैं और उसे अपना बना लेते हैं। वह समस्त प्रचलित मत-मतान्तरों की तीव्र शब्दों मे आलोचना करते हैं, सब को बुरी तरह फटकारते हैं, सब की अवहेलना करते हैं और अन्त में अपनी टेक रखते हैं। वह संहार और सृष्टि एक साथ करते हैं। उनपर सब का प्रभाव है, परन्तु उनका व्यक्तित्त्व इतना आकर्षक और इतना सतेज है कि उसके सामने किसी का प्रभाव टिकने नहीं पाता। इसीलिए वह हमें सर्वथा नवीन दृष्टिगोचर होते हैं।

अब हमें कबीर के गुरु रामानन्द के सम्बन्ध मे भी विचार कर लेना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि कबीर पर उनका कितना प्रभाव था। स्वामी रामानन्द दक्षिण भारत के श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की चौथी अथवा पाँचवीं शिष्य-परम्परा में हुए थे।

उनके गुरु का नाम राघवानन्द था। किसी अनुशासन-सम्बन्धी विषय पर गुरु से मतभेद हो जाने के कारण वह दक्षिण भारत से उत्तर भारत चले आये। इस प्रकार भक्ति के बीज को उत्तर भारत में लाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को प्राप्त हुआ। वह उच्च ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे, संस्कृत के पंडित थे, प्रभावशाली श्री सम्प्रदाय के भावी गुरु थे, परन्तु स्वतन्त्र विचारक होने के कारण उन्होंने यह अनुभव किया कि भगवान का शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ जाता है, उसके लिए वर्णाश्रम धर्म का बन्धन व्यर्थ है। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं। यह सोचकर उन्होंने सब को त्याग दिया और ब्राह्मण से चाण्डाल तक को रामनाम का उपदेश दिया। वह अवतारवाद में आस्था रखते थे और चरित्र को ही लोक और काल के लिए उपयोगी समझते थे। उपासना के क्षेत्र में वह जाति-पाँति का बन्धन व्यर्थ समझते थे, पर उन्होंने अपने शिष्यों पर अपने मत को लादने की चेष्टा नहीं की। वह आकाश-धर्मी थे, शिला-धर्मी नहीं। वह अपने शिष्यों को स्वतंत्र विचारक बनने का अवसर देते थे। कबीर पर उनकी स्वातंत्र्य-प्रियता का अधिक प्रभाव पड़ा। अपने गुरु रामानन्द से बीज रूप से उन्होंने जो ग्रहण किया उसे उन्होंने अपनी रुचि, अपने सिद्धान्तों के आलोक में प्रसारित किया। उन्होंने एक ही साथ उत्तर-पूर्व के नाथ-पथ और सहजयान का मिश्रित रूप, पश्चिम का सूफी सम्प्रदाय और दक्षिण का वैष्णव-धर्म—इन तीन बड़ी बड़ी धाराओं को आत्मसात् किया, परन्तु इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने में कोई बाधा नहीं आई। इससे स्पष्ट है कि कबीर ने रामानन्द का अन्धानुकरण नहीं किया। कबीर और रामानन्द दोनों 'राम' के भक्त थे, पर रामानन्द ने जिस साकार 'राम' की उपासना की शिक्षा कबीर को दी थी, कबीर ने उस 'राम' को निराकार ब्रह्म के रूप में ग्रहण किया। उनके राम निर्गुण और

कबीर और रामानन्द

सगुण दोनों से परे हैं। वही राम रहीम हैं; वही गोविन्द हैं। स्वामी रामानन्द के राम हिन्दुओं के राम थे, परन्तु कबीर के राम हिन्दुओं के ही राम नहीं; वरन् समस्त मानव-समुदाय के राम हैं। कबीर के राम की उपासना के लिए साधनों और बाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार कबीर ने वैष्णवों के साकेत को भी अपनाया है। उसे उन्हों ने कभी तो साकेत ही का नाम दिया है और कभी सत्य लोक का, परन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। कबीर का साकेत सत्य पुरुष का निवास है जो स्वयं मनुष्य के सहस्र दल कमल में है और जिसमें अनहद नाद होता रहता है।

कबीर के सम्बन्ध मे इतनी आलोचना करने के पश्चात् अब हम उनकी भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। हम यह देखेंगे कि उनकी भक्ति किस प्रकार की थी और उनके क्या धार्मिक सिद्धान्त थे। अब तक की आलोचना से हम यह तो जान ही गये हैं कि वह ज्ञानी भक्त थे। इसलिए उनके धार्मिक सिद्धान्तों में मस्तिष्क और हृदय दोनो का योग था। जिन सिद्धान्तों को उनका हृदय और मस्तिष्क एक होकर स्वीकार करता था उन्हीं का प्रचार वह समीचीन समझते थे। इसलिए उन्होंने अपने चारो ओर फैले हुए अनेक मत मतान्तरों पर पैनी दृष्टि डाली थी और उनका सार अपनी विचार-धारा के अनुसार ग्रहण किया था। इसीलिए हमें उनके धार्मिक सिद्धान्तों मे स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद, स्वामी रामानन्द का भक्तिवाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद, नाथ-पंथ का हठयोगवाद और सूफियो की शान्तिमयी उपासना एक साथ मिलती है। वह इन समस्त मत-मतान्तरों का अपने धार्मिक सिद्धान्तों मे एक साथ प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए कबीर का धर्म विश्व-धर्म है। उसमें सब के लिए समानरूप से स्थान है।

कबीर की भक्ति का स्वरूप

हम कह आये है कि कबीर संत मत के प्रवर्तक थे। उन्हों ने अपने सिद्धान्तों का जो रूप निर्धारित किया था, वह आगे चलकर

संत मत के रूप में विकसित हुआ। संत मत में कबीर का ईश्वर एक है, उसका रूप नहीं है, आकार नहीं है। ऐसे निर्गुण और सगुण से परे ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने भक्ति को स्थान दिया है। यहाँ यह बात विचार करने की है कि निराकार भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने में उपासना का स्थान है, भक्ति का नहीं। उपासना में प्रेम के स्थान पर श्रद्धा और भय रहता है, उसमें यमनियम की कठोर साधना रहती है; पर कबीर अपने मत के लिए उपासना के स्थान पर भक्ति को महत्त्व देते हैं। कबीर की भक्ति का यह रूप कुछ बेढंगा-सा है। निराकार की उपासना हो सकती है, उसकी प्रेम-पूर्ण भक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि कबीर की भक्ति का स्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं आता। उनकी भक्ति को हम न तो निराकार की उपासना कह सकते हैं और न साकार ईश्वर की भक्ति ही। उनकी भक्ति बेमेल खिचड़ी-सी है जिसे समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है।

कबीर की भक्ति में प्रेम की स्थापना सूफी तथा वैष्णव धर्म के कारण हुई है। सूफी मत में आत्मा, हृदय और बुद्धि की प्रधानता है, इन्द्रियों की नहीं। उसमें ईश्वर की भावना प्रियतम पुरुष रूप (माशूक) में है। कबीर ने आत्मा की कल्पना स्त्री और ब्रह्म की पुरुष में की है। इसी भावना के अन्तराल में उनका रहस्यवाद है। इसमें सन्देह नहीं कि संत मत में रहस्यवाद केवल कबीर तक सीमित रहा, अन्य किसी कवि ने इस भावना तक पहुँचने की क्षमता नहीं दिखाई; तथापि पुरुष ब्रह्म की भावना उसमें अन्त तक बनी रही। कबीर ने ब्रह्मवाद से पुरुषब्रह्म, माया, तथा चिन्तन और सूफीमत से आत्मनिवेदन लेकर अपने संत मत की स्थापना की। साधना के दृष्टिकोण से भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने हठयोग की क्रियाओं को भी अपने मत में स्थान दिया। उनके मत की निम्न प्रधान भावनाएँ हैं:—

१. संतमत का ईश्वर एक है। उसका रूप और आकार नहीं है। वह निर्गुण और सगुण से परे है। वह सर्वव्यापी है। वह ज्योति-

स्वरूप है। उसी ने संसार की सृष्टि हुई है। उसकी उपासना भक्ति और योग से हो सकती है।

२. ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमात्मा से आत्मा का मिलन उसी के द्वारा होता है, इसलिए उसका स्थान स्वयं परमात्मा से ऊँचा है।

३. माया सत्यपुरुष से उत्पन्न है। वह संसार की सृजन शक्ति है। उसके दो रूप हैं—सत्य और मिथ्या। सत्य माया, ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होती है, परंतु मिथ्या माया आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक है। वह त्रिगुणात्मक है। वह जन्म, पालन और संहार करने-वाली भी है। वह त्याज्य है।

४. ईश्वरीय चिन्तन के लिए हठयोग-द्वारा शरीर को समर्थ बनाना चाहिए। हठयोग का आदर्श है शारीरिक एवं मानसिक परि-श्रम द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना और उसका तात्पर्य है बल-पूर्वक ब्रह्म से मिल जाना। अपने अंगों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित सञ्चालन करना हठयोग और मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए आत्मा का समाधिस्थ होकर परमात्मा से मिल जाना राजयोग है। हठयोग और राजयोग एक ही साधना के दो अंग हैं। राजयोग के पहले हठयोग आवश्यक है।

परन्तु कबीर ने हठयोग को इस रूप में स्वीकार नहीं किया। बात यह थी कि उस समय के हठयोगियों ने परमतत्त्व की प्राप्ति के इन साधनों को ही चरम लक्ष्य समझ लिया था। इसलिए कबीर ने अपने मत में उन क्रियाओं को व्यर्थ बताकर सहजयोग पर जोर दिया। वह प्राणायाम और समाधि के बखेड़े में नहीं पड़े। उनका कहना था कि बिना आँख मूँदे, बिना आसन लगाये समस्त ब्रह्माण्ड को देखो और अपने भीतर से उस परमतत्त्व को खोज निकालो। जब भीतर अनहद-नाद सुनाई देगा तब सहज ही परमतत्त्व की प्राप्ति हो

जायगी। उन्होंने स्वयं अपने भीतर अनहद-नाद सुना था और इस दिशा में उनके गुरु रमानन्द ने उनका नेतृत्व किया था।

ऊपर की पंक्तियों में कबीर के धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं उनके प्रकाश में जब हम उनकी रचनाओं का अध्ययन करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपनी भक्ति के आवेश में ऐसी ऐसी बातें कह जाते हैं जो सर्वथा अस्पष्ट हैं। इसका कारण उनकी तन्मयता, उनका रहस्यवाद है। रहस्यवाद जीवात्मा की उस आन्तरिक अवस्था का प्रकाशन होता है जब वह सत्पुरुष से अपना चिर सम्बन्ध जोड़ने के लिए उत्सुक होती है। इतना ही नहीं; यह सम्बन्ध इतना घनीभूत हो जाता है कि आगे चलकर दोनों में कोई अन्तर, कोई व्यवधान नहीं रह जाता। जीवात्मा और परमात्मा का एकाकार हो जाता है। ऐसी दशा प्राप्त होने पर इन्द्रियाँ भी अपना कार्य-क्षेत्र बदल देती हैं। आँखें सुनने लगती हैं; कान देखने लगते हैं। जीवात्मा को इस स्थिति पर पहुँचने के लिए तीन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। उसकी पहली स्थिति तो वह है जब वह ईश्वर के समीप पहुँचती है और उसकी दिव्य विभूतियों को देखकर चकित हो जाती है। उसकी दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब वह परमात्मा के सामीप्य से सन्तोष न करके उससे प्रेम करने लगती है। उस समय उसकी भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं और उसपर एक प्रकार का उन्माद, एक प्रकार का नशा छा जाता है। इस परिस्थिति में संसार की अन्य वस्तुएँ उसकी दृष्टि से विलीन हो जाती हैं। वासनाएँ मर जाती हैं। इसके बाद रहस्यवादी की तीसरी परिस्थिति आती है और इस परिस्थिति में आत्मा और परमात्मा का इतना घनीभूत एकीकरण हो जाता है कि आत्मा अपने अस्तित्व को ही भूल जाती है। उस समय आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता। यही परिस्थिति रहस्यवाद की चरम सीमा है। आत्मा-परमात्मा के इस प्रकार के एकीकरण का

कबीर का रहस्यवाद

स्पष्टीकरण, यदि असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य होता है। यही कारण है कि रहस्यवादियों की रचनाएँ जटिल एवं दुरूह होती हैं। इस जटिलता एवं दुरूहता को दूर करने के लिए वे अपने विचारों को किसी रूपक में प्रकट करते हैं। ये रूपक उनके हृदय में बिना परिश्रम के स्थान पा जाते हैं। इसलिए उनके भावों की तरह वे भी जटिल ही होते हैं। इस जटिलता का एक दूसरा कारण भी है। रहस्यवाद व्यक्तिगत साधना का प्रतिफल होता है। विविध मनुष्यों में विविध मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये मानसिक प्रवृत्तियाँ जितनी ही पवित्र, स्पष्ट, और प्रशान्त वायुमण्डल में विचरने वाली होती हैं उन्हीं के अनुसार रहस्यवादी रचनाएँ जटिल होती जाती हैं। कबीर के रूपक स्वाभाविक होने पर भी जटिल हैं। इसका कारण उनकी घनीभूत तन्मयता है।

कबीर ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। उनके रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है। परमात्मा के प्रति उनका प्रेम पति-पत्नी के रूप में ही अपनी पूर्णता को पहुँचता है। इस प्रकार के प्रेम की यह विशेषता है कि जब तक स्त्री रूप आत्मा को पुरुषरूप परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक विरहिणी के समान वह दुखी रहती है और उसके वियोग में छटपटाया करती है। कबीर की रचनाओं में जहाँ कहीं हमें विरह का चित्रण मिलता है वहाँ वह इसी उद्देश्य से हुआ है। इसी प्रकार उनके मिलन के पदों में हमें उनकी आनन्दानुभूति का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में कबीर का रहस्यवाद उत्कृष्ट है।

कबीर ने अपनी अनुभूति प्रकट करने के लिए दो प्रकार के रूपकों का सहारा लिया है। जब वह अपने रहस्यवादी विचारों को साधारण भाषा से व्यक्त नहीं कर सकते तब वह आश्चर्य-जनक घटनाओं की सृष्टि करते हैं। ऐसा करने के कारण उनकी अस्पष्टता उनके पदों का अर्थ लगाने में बाधक हो जाती है। दूसरे प्रकार के

रूपक हैं उनकी उलटवासियाँ। इस प्रकार के रूपकों में उन्होंने स्वाभाविक व्यापारों के विपरीत कार्य की कल्पना की है जिनका अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन है। कबीर जुलाहे थे, इसलिए उन्हों ने अपने रूपकों में ताना-बाना, चरखा, रहट, चुँदरिया, आदि को यथेष्ट स्थान दिया है।

कबीर की कविता

कबीर का रहस्यवाद समझ लेने के पश्चात् कबीर की कविता का स्वरूप समझना सरल हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट लिख चुके हैं कि कबीर में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान और काव्यगत दृष्टिकोण गौण था। उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों तथा उपदेशों का प्रचार काव्य का सहारा लेकर किया था। वह कवि नहीं थे। कवि कर्म से वह सर्वथा अपरिचित थे। परन्तु मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों पर संगीत का जो प्रभाव पड़ता है उससे वह अवश्य परिचित थे। इसलिए धर्म के स्वाभाविक और सहज सिद्धान्तों को जनता के हृदय में उतारने के लिए उन्हों ने पद्य का आश्रय लिया और इसमें उन्हें मनचाही सफलता मिली।

कबीर के समय में साहित्य की परम्पराओं का एकान्त अभाव था। उस समय हिन्दी-साहित्य न तो भावों की दृष्टि से सम्पन्न था और न भाषा की दृष्टि से। विद्यापति की पदावली मैथिल-भाषा में थी। अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ जनता के मनोरंजन का साधन मात्र थीं। उनमें उच्च कोटि का गम्भीर साहित्य नहीं था। राजस्थान में डिंगल भाषा के अन्तर्गत लिखी जानेवाली ऐसी वीर-गाथाएँ थीं जिनमें केवल लौकिक चरित्रों की प्रधानता थी। परम्पराओं के अतिरिक्त काव्य की एक परम्परा और थी। वह थी नाथ-पंथी योगियों और सहजयानियों की परम्परा। कबीर ने न्यूनाधिक इसी परम्परा से प्रभावित होकर अपने पदों की रचना की, परन्तु उसका अन्धानुकरण उन्होंने नहीं किया।

साहित्य के क्षेत्र में कबीर भविष्य के स्रष्टा थे। उन्होंने सर्वप्रथम

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलैं, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैलैं बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलैं, काम जराय जोगी बन गैलैं हिजरा॥

× ×

कहैं कबीर एक राम जपु रे, हिन्दू-तुरक न कोई।

कबीर के उपदेश-सम्बन्धी पदों में जीवन की दार्शनिकता भरी हुई है। उनमें गुरु-महिमा, ईश्वर-महिमा, प्रेम-महिमा, सत्संग-महिमा, माया का फेर आदि का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है। उनके पदों से जीवन में उनकी गहरी पैठ का आभास हो जाता है। उनके कवित्त्व का भी आभास हमें उनके ऐसे ही पदों से मिलने लगता है। उनकी ऐसी रचनाएँ प्रायः उनके चिन्तन और मनन का परिणाम होती हैं, उनकी भक्ति का स्वरूप नहीं। देखिए :—

अरस परस कछु रूप-गुन, नहिं तँह संख्या आहि।
कहै कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिये ताहि॥

× ×

घट-घट में रटना लगि रही, परघट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ, कहुँ साहु हुआ, कहुँ बाह्मन है, कहुँ सेख जी॥

× ×

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

× ×

सतगुर दीन दयाल हैं, दया करी मोहिं आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय॥
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है हम नाहिं।
प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं॥

× ×

अधर भूमि जँह महल पिया का हम पै चढ़ा न जाय।
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय॥

× ×

प्रेम प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
आठ पहर भीना रहे, प्रेम कहावै सोय॥

× ×

जाहु वैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निर्मई, भला करेगा सोय॥

कबीर की कविता का तीसरा विषय है उनकी स्वानुभूति। यही उनका सर्वप्रिय विषय है। उनके सभी धार्मिक तत्त्व, उनकी समस्त साधना, उनकी समस्त चिन्ता कविता का सहारा पाकर सहस्र मुख से मुखरित हो उठी है। काव्य की शास्त्रीय तुला पर तौलने से उसमें दोष अवश्य मिलते हैं, परन्तु भावनाओं का तारतम्य, रूपकों की योजना और स्वाभाविक अलंकार की छटा उसमें स्वाभाविक रूप से मिलती है और ऐसा आभास होने लगता है कि वह उच्च कोटि के कवि हैं। जिस सन्त ने 'मसि कागज छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ' उसकी वाणी सुनकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वह काव्य-शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उनका रहस्यवाद उच्च कोटि का काव्य है।

कबीर अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप है कि सहस्रों कवियों के बीच वह शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। सरलता, सुबोधता और स्पष्टता उसकी विशेषताएँ हैं। उनकी शैली से किसी को भ्रम नहीं होता। अपनी रचना में उन्होंने कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। खण्डन-मण्डन में दोहे, और स्वानुभूति के चित्रण में भजन तथा गीतों का उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। उनके कुछ ऐसे भी छन्द मिलते हैं जिनका देहातों में प्रचलन हैं। छन्द-शास्त्र तथा अलंकार-विज्ञान का ज्ञान न होने के

कबीर की शैली

कारण उनके पदों में बहुत शिथिलता पाई जाती है। तुकान्तादि वेष-भूषा के रहने पर भी छन्द-दोष, मात्रा की न्यूनता, और पुनरुक्ति आदि त्रुटियाँ उनकी रचनाओं में बहुत पाई जाती हैं। उनके कुछ छन्द अतुकान्त भी हैं।

कबीर की शैली अपना एक और महत्त्व रखती है। कबीर अपनी सब बातें सब से एक साथ ही नहीं कहते। वह अपने उपदेशों में प्रत्येक अवसर पर एकसी बातें नहीं कहते। विशेष अवसरों पर जब उन्हें विशेष बातें कहने की आवश्यकता होती है तब वह उन बातों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों से ही कहते हैं। हिन्दू-शास्त्रों की बात करते समय पंडित को, इस्लाम-धर्म की बात करते समय शेख़ और मुल्ला को, भक्ति की बात करते समय साधुओं को, योग की बात करते समय योगियों को ही वह सम्बोधित करते हैं। कोई बात किस से कब और कहाँ कहनी चाहिए, इसका कबीर बहुत ध्यान रखते हैं। उनकी इस शैली से उनके कथन में चुटीलापन आ गया है।

कबीर की शैली में उलटवासियाँ और अन्योक्तियाँ भी मिलती हैं। उनकी उलटवासियाँ अर्थपूर्ण होने पर भी सरल नहीं हैं। उनकी अन्योक्तियाँ अवश्य सरल और अर्थपूर्ण हैं। उनका भाव समझने में कठिनाई नहीं होती।

कबीर की तर्क-शैली विचित्र है। उनके तर्क शास्त्रीय तुला पर ठीक नहीं उतरते। इसका प्रथम कारण यह हो सकता है कि वह शास्त्रीय ज्ञान से शून्य थे। उसे जानने की उन्होंने चेष्टा भी नहीं की। आत्मा की पवित्रता में विश्वास रखनेवाले उस साधु को तो उस श्रेणी के लोगों में उपदेश देना था जो दरिद्र थे, दीन थे, पतित समझे जाते थे, वेद और शास्त्र के अधिकारी नहीं थे। ईश्वर के ऐसे बन्दों के प्रति कबीर का कथन था:—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल-मुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

अपने इस कथन से कबीर ने उस समय की दूषित मनोवृत्ति का परिष्कार तो किया ही, उन हरिजनों की आत्म-शुद्धि के लिए उन्होंने जो तर्क-शैली अपनाई उससे भी सब का—ऊँच-नीच, मूर्ख-पंडित का संस्कार हुआ। उनकी तर्क-शैली ग्रामीण थी, पर वह थी चुटीली, प्रभावशाली और अपने लक्ष्य पर पहुँचने वाली।

कबीर बहुश्रुत सन्त थे। भारत के विविध प्रान्तों के साधकों से उनका सत्संग होता रहता था। एक-दो दिन नहीं; हफ़्तों और महीनों

कबीर की भाषा

ऐसे सत्संगों में विचारों का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही था। विचारों के आदान-प्रदान में प्रत्येक साधक अपने प्रान्त की बोली का ही प्रयोग करता था। कबीर को अपना सिद्धान्त उन्हें समझाने के लिए उनके शब्दों का उपयोग करना पड़ता था। इसलिए कबीर की भाषा उनकी अपनी भाषा नहीं थी। वह एक बेमेल खिचडी थी, जिसमे अवधी, व्रजभाषा, खड़ी बोली, पूर्वीहिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, राजस्थानी तथा पंजाबी भाषा के शब्द मिलते थे। वह भाषा के पारखी नहीं थे। भाषा का कोई साहित्यिक रूप भी उनके सामने नहीं था। ऐसी दशा में उनको अपने विचारों, अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए भाषा का रूप स्वयं स्थिर करना पड़ा। उन्होंने एक सच्चे कलाकार की भाँति अपने भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रत्येक चलती बोली से शब्द लिया और उसे अपने भावों के योग्य बनाकर अपनी रचनाओं में स्थान दिया। इसलिए उनकी भाषा मे जहाँ हमें बतियाँ, रतियाँ आदि पूर्वी भाषा के शब्द मिलते हैं वहाँ संस्कृत के प्रतीत, निरंजन, सूक्ष्म, स्थूल और फ़ारसी तथा अरबी के खालिक, नमाज़, नज़र, इश्क़ आदि शब्द भी प्रचुर संख्या मे मिलते हैं। इन शब्दों का वह अपने छन्दों की गति और लय के अनुसार ही प्रयोग करते हैं। अपने भावोन्माद मे उन्हें भाषा की चिन्ता नहीं रहती। वह अपनी रुचि के अनुसार उसे तोड़-मरोड़कर इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि कभी-कभी

उसका वास्तविक रूप ही छिप जाता है। परन्तु इतना करने पर भी उन्होंने अपनी भाषा में पूर्वी हिन्दी का अत्यधिक प्रयोग किया है। उनकी भाषा-सम्बन्धी इस योग्यता से यह भ्रम न होना चाहिए कि भाषा-निर्माण उनका उद्देश्य था। वह सन्त थे। भाषा और साहित्य की कला से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। परन्तु हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने परोक्षरूप में भाषा का जो रूप स्थिर कर दिया वह भविष्य के लिए हिन्दी-कवियों का विचार-वाहन होने में अपनी योग्यता प्रमाणित कर सका।

अब तक हमने धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से कबीर की जो आलोचना की है उससे यह स्पष्ट है कि वह अपने युग के निर्भीक नेता थे। उनकी आत्मा विद्रोही आत्मा थी। एक मुसलमान जुलाहे के कुल में जन्म लेकर उन्होंने स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व स्वीकार किया और अपने समय के समस्त मत-मतान्तरों का अपने मत में समन्वय किया। कबीर-जैसे साधारण व्यक्ति के लिए यह साधारण बात नहीं थी। उनका समय भारत के सांस्कृतिक अवस्था के उतार का समय था। मुसलमानी शासन के अन्तर्गत उन्हें राज-धर्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह चाहते तो राजकीय गरिमा से विभूषित हो सकते थे। परन्तु उन्होंने उसका तिरस्कार किया। इतना ही नहीं; उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों के आलोक में उसकी ऐसी तीव्र निन्दा की, ऐसी कटु आलोचना की कि स्वयं सिकन्दर लोदी को उनसे लोहा लेना पड़ा। कहाँ दीन कुल में पला हुआ एक साधारण जुलाहा और कहाँ लोदी सम्राट सिकन्दर! पर सिकन्दर के सामने उन्होंने अपना सिर नहीं झुकाया, अपनी आत्मा का बलिदान नहीं किया। ऐसा था उनका साहस! ऐसा था उनका आत्मविश्वास! वह अपने आत्म-विश्वास के आगे किसी को कुछ नहीं समझते थे। गुरु का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए भी उन्होंने अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलने की

कबीर का हिन्दी-साहित्य में स्थान

कभी चेष्टा नहीं की। उन्होंने स्वयं अपना मार्ग बनाया।

कबीर मुल्ला और पंडित नहीं थे, पर मुल्लाओं और पंडितों के जीवन को—उस जीवन को जिसमें सौ फ़ी सदी अधार्मिकता थी, पाखंड था, छल और कपट था, उन्होंने अपनी आँखों देखा था। उनके आचरण से वह समझ गये थे कि उनके जीवन में आत्मा की पवित्रता के स्थान पर कर्म-कांड का अधिक महत्त्व है। इस भावना ने उनको ऊँचा उठा दिया। वह समदर्शी हो गये। आत्मा की पवित्रता उनके जीवन का लक्ष्य बन गई। इसी लक्ष्य के आलोक में उन्होंने ज्ञानियों को फटकारा, मुल्लाओं को ललकारा योगियों का प्रताड़न किया। कहाँ की नमाज़ और कहाँ की समाधि! आत्मा की पवित्रता के आगे ये क्रियाएँ ढोंग, पाखंडपूर्ण थीं। उनका विश्वास था कि गार्हस्थ्य जीवन में रहकर भी पवित्र आत्मा होने पर उस सत्पुरुष का साक्षात्कार हो सकता है। अपने इसी विश्वास के कारण उन्होंने कभी अपने पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया। अपने बाल-बच्चों में रहकर उन्होंने जिस सन्त-मत और जिस सहज-योग की स्थापना की वह आज भी जीवित है और बहुत से हिंदू तथा मुसलमानों की धार्मिक प्रवृत्तियों का नेतृत्व करता है।

कबीर भाग्यवादी थे। कर्मगति में उनका विश्वास था। "केरा के ढिग बेर' होने पर वह विधि ही के भरोसे रहते थे, परन्तु भाग्यवाद की इस कठोरता से उनको कभी निराशा नहीं हुई। वह बराबर युद्धक्षेत्र में डटे रहे और अंत तक अपने 'धनी के हेत' जूझते रहे। उन्होने जो क़दम आगे बढ़ाया उसे कभी पीछे हटाना उचित नही समझा। उनका कहना था:—

सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरजा-पुरजा होइ रहे, तऊ न छोड़े खेत॥

कबीर का यह उत्साह, उनकी यह अजेय श्रद्धा उनके व्यक्तित्व की एक विशेष परख है। वह अपने साहस के आगे जीवन की

नहीं कहा जा सकता। पर आधुनिक अनुसन्धानों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वह रुनकुता—रेणुका क्षेत्र के समीप गऊघाट पर साधु-जीवन व्यतीत करते थे। संगीत के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। मस्ती के क्षणों में वैरागी सूर अपना तानपूरा छेड़कर कुछ गुन-गुनाया करते थे। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हुई। उन्होंने स्वामी जी को स्वरचित एक पद गाकर सुनाया। वह पद स्वामी जी को बहुत पसन्द आया। उन्होंने सूर को अपने धर्म में दीक्षित किया और श्रीमद्भागवत की कथाओं को सुललित गेय पदों में रूपान्तरित करने का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा का भार भी सूर को सौंप दिया। उस समय से निरन्तर वह काव्य-मनीषी साधना-संलग्न रहकर श्री कृष्ण की पावन लीलाओं का गुणगान करते रहे।

सूरदास जी अन्धे थे। पर वह जन्मांध नहीं थे। इस सम्बन्ध में जनश्रुति है कि उन्होंने अपनी युवावस्था में किसी सुन्दरी को देखकर अपनी आँखें फोड़ ली थीं। यह भी कहा जाता है कि वह अपनी अन्धावस्था में एक बार कुएँ में गिर गये थे और छः दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन उन्हें किसी ने निकाला। अपने रक्षक को कृष्णभगवान समझ कर उन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया, पर वह हाथ छुड़ाकर भाग खड़ा हुआ। इस पर उन्होंने यह दोहा कहा :—

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोंहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बखानौं तोंहि॥

सूरदास की मृत्यु महाप्रभु वल्लभ के सुयोग्य पुत्र विट्ठलनाथ की उपस्थिति में पारसोली नामक ग्राम में हुई। वह अपने अन्तिम समय तक अपने पद गाते रहे और इस प्रकार संवत् १६२० के लगभग उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

सूरदासकृत पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं—१. सूरसागर, २. सूरसारा-वली, ३. साहित्य-लहरी, ४. नल दमयन्ती और ५. ब्याहलो। इनमें

से पिछले दो ग्रन्थ अप्राप्य हैं और उनके सूरकृत होने में भी सन्देह है।

सूरदास की रचनाएँ

इस प्रकार उनके तीन ग्रन्थ रह जाते हैं—सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी। इन तीनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता लगता है कि वे वास्तव में तीन ग्रन्थ नहीं हैं।

१. सूर सारावली—यह ग्रन्थ जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है, स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर सूर सागर की अनुक्रमणिका मात्र है। ऐसा जान पड़ता है कि सूर ने परम्परानुसार इन पदों की रचना करके इन्हें सूरसागर की भूमिका स्वरूप रख दिया है, पर यदि सारावली और सूरसागर की तुलना सूक्ष्म रूप से और विस्तारपूर्वक की जाय तो उसमें ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जो सूरसागर में नहीं हैं। इससे कुछ लोगों को इसके सूरकृत होने में सन्देह मालूम होता है। इसमें कृष्ण की संयोग लीला, वसन्त, हिंडोला, और होली आदि के प्रसंग, कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद लिखे गये हैं। इसी ग्रन्थ में सूर के एक लक्षपद लिखने की बात भी की गई है। अभी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसमें कुल ११०७ पद हैं।

२. साहित्य-लहरी—यह ग्रन्थ भी सूर सागर का एक अंश-सा जान पड़ता है। इसमें सूर सागर के वे पद हैं जिनमे अपेक्षाकृत पाण्डित्य अधिक है। वास्तव में यह एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें नायिकाभेद, अलंकार, एवं रस-निरूपण आदि के उदाहरण-स्वरूप बहुत-से पद उपस्थित किये गये हैं। इसमे अनेक पद दृष्टिकूट के भी हैं। ऐसे ही कुछ पद सूरसागर में भी हैं। कुछ ऐसे पद भी हैं जो सूर सागर मे नहीं मिलते। इसका रचना काल सं० १६०७ है।

३. सूरसागर—यह सूर का प्रामाणिक ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ वास्तव मे इसी वृहत् ग्रन्थ की छाया मात्र हैं। यह एक ग्रन्थ नहीं, कई ग्रन्थों का संग्रह है। इसके पूर्वार्द्ध मे (१) विनय, वैराग्य, सत्संग, गुरु महिमा सम्बन्धी मौलिक पद, (२) बाल-लीला, (३) प्रेम-लीला, (४) दान-लीला,

(५) छोटी मान लीला, (६) बड़ी मान लीला, (७) विरह लीला, (८) दो भ्रमर गीत तथा (६) सारे ग्रन्थ में फैला हुआ छन्दों में समस्त श्रीमद्भागवत-कथा का उल्था है। इसके उत्तरार्द्ध मे नन्द-यशोदा और राधा-माधव-मिलन सम्बन्धी मौलिक पद मिलते हैं। यह विभाजन दशम स्कन्ध के अनुसार है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि यह प्रबन्ध काव्य नहीं है। इसमें प्रसंगानुसार कृष्ण-लीला-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पद संग्रहीत हैं। इसमे भागवत के कृष्ण, वह कृष्ण जो सौंदर्य, प्रेम और लीला के कृष्ण हैं, अपने प्रकृत रूप में चित्रित किये गये हैं। महाभारत के कृष्ण कर्मयोगी, राजनीतिज्ञ और शक्ति-सम्पन्न कृष्ण हैं। सूर पुष्टिमार्गी भक्त थे। इसलिए उन्होंने कृष्ण के महाभारतवाले स्वरूप को चित्रित न करके भागवत वाले स्वरूप को ही मुख्यतः चित्रित किया है। इस ग्रन्थ का रचना काल अनिश्चित है। लोगों ने इसका रचना काल अनुमानतः १५७६-१६०७ माना है। इसमें कुल मिलाकर १२ स्कंध हैं। प्रथम स्कंध में २१६ पद हैं। इन पदों में अधिकांश पद विनय सम्बन्धी हैं। इसमें कथा भाग अनेक विषयों मे सम्बन्ध रखता है। द्वितीय स्कन्ध में ३८ पद हैं। इसका अधिकांश भाग भक्ति, आत्मज्ञान, और ब्रह्मा तथा चौबीस अवतारों की उत्पत्ति से भरा हुआ है। तृतीय स्कन्ध में १८ पद हैं। इसमें कई सम्वाद, और कई कथाएँ हैं। चतुर्थ स्कन्ध मे १२ पद हैं। इसमें पार्वती-विवाह, शुक-वचन आदि का वर्णन है। पंचम स्कन्ध में केवल चार पद हैं। षष्टम स्कंध में भी चार ही पद हैं। इसमें अजामिल आदि की कथा है। सप्तम स्कन्ध में ८ पद हैं। इसमे नृसिंहावतार की कथा प्रधान रूप से वर्णित है। अष्टम स्कन्ध में १४ पद हैं। इस में गजमोचन की कथा, कूर्म अवतार, समुद्र-मन्थन आदि की कथाएं हैं। नवम स्कन्ध में १७२ पद हैं। इसमें गंगावतरण, परशुराम अवतार आदि की कथाएँ हैं। राम की कथा विस्तारपूर्वक है। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में ३४६४ पद हैं। यह अंश सूरसागर का प्राण है। इसमें

कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा है। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध में १३८ पद हैं। इसमें कृष्ण-कथा का उत्तरार्द्ध है। एकादश स्कन्ध मे केवल ६ पद हैं। इसमें अवतारों की कथा है। बारहवें स्कन्ध मे ५ पद है इसमें बौद्धावतार आदि की कथा है। इस प्रकार सूर सागर में कुल पदों की संख्या ४०३२ है।

सूरदास की रचनाओं का अध्ययन करने से उनके समय का कुछ आभास मिल जाता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि उनका जन्म बहलोल लोदी के समय मे हुआ था। भारतीय इतिहास में यह वह समय था जब पन्द्रहवीं शताब्दि का अन्त हो रहा था। बहलोल अच्छा शासक था।

सूरदास का समय

वह धार्मिक और उदार था। उसकी मृत्यु के समय सूर की अवस्था १५-१६ की थी। बहलोल की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर लोदी बादशाह हुआ। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अच्छा नहीं था। उसने अनेक मन्दिर गिरवाकर उनके स्थान पर मसजिदे बनवाई थीं। सं० १५७४ के लगभग उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस घटना के दो वर्ष पश्चात् अर्थात् स० १५७६ मे पूर्णमल्ल के मन्दिर मे श्री नाथ जी की स्थापना हुई। यह मन्दिर वृन्दावन मे है। जान पड़ता है कि इसी सम्वत् के आसपास महाप्रभु वल्लभाचार्य और सूरदास मे गऊघाट पर भेट हुई और उनके पुष्टि मत मे दीक्षित हो जाने पर इस मन्दिर में कीर्तन का कार्य सूरदास को सौंपा गया। इस समय सूर अपने सूर सागर के प्रारंभिक अंश की रचना कर रहे थे।

इब्राहीम लोदी बड़ा स्वार्थी शासक था। वह अफगान अमीरों के साथ अत्यन्त असभ्यता-पूर्ण व्यवहार करता था। इससे भारत की राजनीतिक परिस्थिति अत्यन्त डाँवाडोल हो रही थी। कई राज्य अपनी स्वतंत्रता घोषित कर चुके थे और आपस मे लड़झगड़ रहे थे। देश के राजाओं तथा योद्धाओं को देश की मर्य्यादा का कुछ भी ध्यान

नहीं था। विदेशी शासकों को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण देने में उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोदी वंश का अन्त हो गया और सं० १५८३ के लगभग पानीपत की लड़ाई के पश्चात् एक नवीन साम्राज्य स्थापित हो गया। इतिहास में यही साम्राज्य मुग़ल साम्राज्य के नाम से विख्यात है।

मुग़ल साम्राज्य के आविर्भाव के पश्चात् हिन्दू जाति तथा हिन्दू धर्म का जिस प्रकार पतन हुआ वह इतिहास से जाना जा सकता है। मुसलिम धर्म के प्रचार के साथ जहाँ हिन्दुओं की राजनीतिक व्यवस्था बिगड़ रही थी, वहां उनके धर्म का स्वरूप भी बिगड़ गया था। नये-नये मतों तथा नवीन प्रकार के साधु-सन्तों और योगियों ने हिन्दू-धर्म की व्यापकता नष्ट कर दी थी। साम्प्रदायिक भेद-भाव बढ़ते जा रहे थे। वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में अत्यन्त शिथिलता आ गई थी। विजेता और विजित में परस्पर द्वेष की भावना इतनी बढ़ गई थी कि समस्त देश में बराबर अशान्ति बनी रहती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक कारणों से जनता के जीवन में ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिनमें समन्वय स्थापित करने की अत्यधिक आवश्यकता थी। कबीर, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य सन्तों ने ऐसी परिस्थितियों का समझने और उनका परिहार करने की चेष्टा अवश्य की, पर उस समय की जनता का, विशेषतः हिन्दू जनता का, उनसे बोध नहीं हुआ। हिन्दू-जनता को आवश्यकता थी सूर और तुलसी के समान भक्त कवियों की, और समस्त भारत को आवश्यकता थी राजनीतिज्ञ अकबर की। सौभाग्य से दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हो गई। भारत का भाग्य चमक उठा। हिन्दू जाति ने अपना धार्मिक नेता पाया और भारतीय जनता ने एक कुशल उदार, और निष्पक्ष शासक।

यह तो हुई सूर के समय की राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति। साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि सूर का समय उत्तरी भारत में सौर-काल था। यह काल सं० १५६० से सं० १६३० तक माना जाता है। यह हिन्दी का समृद्ध युग था। इसी काल में हिन्दी ने साहित्य का सुधा रस-पान किया था। इसी युग में वैष्णवों ने—विशेषतः वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तों ने व्रजभाषा को विकसित करके उसके साहित्य को माधुर्य-प्रसादादि गुणों से अलंकृत किया और सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाया था। सूर के समय में व्रजभाषा में गद्य और पद्य, दोनों की, रचना हो चुकी थी। बंगाल में महाप्रभु चैतन्य तथा दक्षिण में श्री रामानुजाचार्य के धार्मिक आन्दोलनों के फल-स्वरूप भक्ति-मार्ग का प्रचार तीव्र गति से हो रहा था और उसका रूप निखर आया था। मैथिल-कोकिल विद्यापति की भक्ति-भावना का हिन्दू-जनता में प्रचार हो रहा था और उनके पदों को गा-गाकर लोग भक्ति-रस का आनन्द लूट रहे थे। ऐसे ही वातावरण में सूर ने सूरसागर की रचना की।

सूर की भक्ति का स्वरूप

सूरदास उच्च कोटि के भक्त थे। उनके इष्टदेव थे कृष्ण। कृष्ण की भक्ति में उनका अटूट विश्वास था। सूरसागर के दशम स्कन्ध तक में जिन नव अवतारों की कथा वर्णन की गई है उनमें रामावतार की कथा का सविस्तर वर्णन है, उसमें उनकी वृत्ति रमी नहीं जान पड़ती। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हों ने परम्परा मात्र का पालन किया है। राम उनके उपास्य हैं भी और नहीं भी हैं। पर उनकी कृष्ण-कथा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। वह अपनी कृष्ण-कथा में एक प्रकृत भक्त के रूप में हमारे सामने आये हैं। आरम्भ में उनकी भक्ति का स्वरूप सेवक-सेव्य भाव का रहा है। उनकी इस भाव की भक्ति में वही विनय, वही दैन्य, वही आत्मसमर्पण, वही कारुण्य है जो तुलसी का अपने इष्टदेव राम के

प्रति है। पर आगे चलकर उनकी भक्ति-भावना के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के परिवर्तन का कारण उनकी भक्ति-भावना पर स्वामी वल्लभाचार्य के पुष्टि मत का प्रभाव है। पुष्टि मार्ग में कृष्ण की लीलाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वल्लभाचार्य को दास्य-भाव की दैन्य-प्रधान भक्ति प्रिय नहीं थी। उनकी भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि को ही विशेष महत्त्व प्राप्त था और सखा-भाव से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि स्वामी वल्लभाचार्य के धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् सूर की भक्ति का स्वरूप सेवक-भाव से सखा-भाव में परिणत हो गया। इसी से सूरसागर में विनय के पदों के पश्चात् सख्य-भक्ति के पदों का बाहुल्य हो गया।

सूरदास की सख्य-भक्ति का विकास दो रूपों में हुआ है—१ गोप-ग्वाल और कृष्ण के प्रसङ्ग में और २. राधा और कृष्ण के प्रसंग में। गोप-ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य-भाव के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे बालकृष्ण के सच्चे सखा हैं। माखन चुराने में, खेल-कूद में, शरारत करने में, गोचारण में, गोपियों को छकाने में, झाँसा-पट्टी देने में, प्रेम-लीला में, लूट-खसोट में प्रत्येक क्षण उनका और कृष्ण का साथ रहता है। शीघ्र लड़ते-झगड़ते हैं और शीघ्र मिल भी जाते हैं; पर ईर्ष्या-द्वेष का नाम नहीं। वे कृष्ण को अपने से भिन्न नहीं समझते। कृष्ण और उनमें कोई अन्तर नहीं। दोनों एक हैं। देखनेवालों को भेद मालूम होता है, पर वे अपने और कृष्ण में कोई भेद नहीं मानते। मिलन और विरह के सुख-दुःख वे समान रूप से गोपियों की भाँति ही अनुभव करते हैं। सूर ने इन गोप-ग्वालों के हृदय में बैठकर, अपना आसन जमा कर, उनकी कैशोर-लीलाओं का जी-भर आनन्द लिया है और अपने पदों में उनके अनूठे चित्र उतारे हैं।

सूर की सख्य-भक्ति का दूसरा स्वरूप है राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग में। इस प्रकार के प्रसङ्गों में उनकी सख्य-भक्ति का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। कृष्ण के सखा होने के नाते उन्होंने जिस प्रकार

बाल-मित्र के रूप में बाल-कृष्ण की भक्ति की है उसी प्रकार एक तरुण-मित्र के रूप में वह तरुण कृष्ण के प्रेम-व्यापारों में उनका साथ देते रहे हैं। इन अवसरों पर कृष्ण का उनसे कोई पर्दा नहीं है। वह बाहर भी कृष्ण के साथ हैं और अन्तःपुर में भी। वह सर्वत्र अपने सखा के साथ हैं। कोई बात, कोई प्रेम-व्यापार उनसे छिपा नहीं है। कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार उनकी आँखों के सामने होता रहता है और वह उसके चित्र उतारा करते हैं। कृष्ण उचित कार्य कर रहे हैं अथवा अनुचित, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। उन्हें चिन्ता है प्रत्येक दशा में उनके साथ रहने की। सूर कृष्ण के औचित्य-अनौचित्य को अपना औचित्य-अनौचित्य समझते हैं और इसीलिए वह शान्त रहते हैं। कृष्ण को उन्हों ने मित्र रूप में इतना अपना लिया है, अपने हृदय में इतना घुला-मिला लिया है कि कृष्ण के दोषयुक्त कार्य में भी उन्हें अनौचित्य का आभास नहीं होता। वह कृष्ण के साथ एक प्राण दो शरीर हो गये हैं; दुग्ध और जल के समान एक रंग हो गये हैं। सच्चे मित्र का, सच्चे सखा का यही लक्षण है।

अबतक सूर की सख्य-भक्ति के जिन रूपों पर विचार किया गया है उनके अतिरिक्त यदि छान-बीन की जाय तो उनके 'सागर' में बहुत से ऐसे पद मिलेंगे जिनसे नवधा भक्ति के सम्पूर्ण अंगों की—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन की—पूर्णतः पुष्टि होती है, पर नवधा भक्ति के इन अंगों में से मुख्यतः सख्य भक्ति ही है। उनके कुछ पदों से उनकी सगुण रहस्यवादात्मक भक्ति का भी आभास मिलता है। ऐसे पदों को उनकी भक्ति में गौण स्थान देना चाहिए।

सूर ने सूरसागर के तृतीय स्कन्ध में भक्ति के दो भेद किये हैं—सकाम और निष्काम। सकाम भक्ति द्वारा भक्त क्रमशः उद्धार पा जाता है। वह धीरे-धीरे ब्रह्म तक पहुँचता है और विष्णु-पद में लीन हो जाता है। निष्काम भक्ति द्वारा भक्त सीधा बैकुण्ठ में पहुँचता है

और फिर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। भक्ति के ये भेद श्रीमद्भागवत के अनुसार हैं। इसी के आधार पर इन्होंने कर्म-योग, ज्ञान-योग, और भक्ति-योग का वर्णन किया है और इन तीनों मार्गों द्वारा भगवान की प्राप्ति का सम्भव सिद्ध किया है।

सूर के दार्शनिक विचार

सूर के दार्शनिक विचारों पर महाप्रभु वल्लभ स्वामी के पुष्टि मत का प्रभाव है। पुष्टि मार्ग में भगवान के अनुग्रह-द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है, कर्म-द्वारा नहीं। वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं, संसार के पालक, पोषक और संहारक हैं, स्वयं सच्चिदानन्द हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई है। जीव में कृष्ण के सत् और चित् गुणों का प्रादुर्भाव हुआ, पर आनन्द-तत्त्व तिरोभूत रहा। इसी प्रकार जड़ प्रकृति में केवल सत्-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित् और आनन्द तिरोभूत रहे। वास्तव में तीनों तत्त्वों की यही विभिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। इस में माया का कोई हाथ नहीं है। उनके मत से जीव भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। अंश मात्र होने के कारण जीव की शक्ति सीमित है और पूर्ण होने के कारण ब्रह्म की शक्तियाँ अपार हैं। जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। प्रकृति में ब्रह्म के दो विशेषणों का—चित्त और आनन्द का—तिरोभाव हुआ है। माया के सम्बन्ध में उनका मत है कि जिस प्रकार वह परमार्थिक सत्ता को हमारी दृष्टि से छिपा देती है उसी प्रकार उससे मिलाने में भी वह सहायक होती है। परमात्मा से आत्मा और प्रकृति के विकास होने में उसका कोई हाथ नहीं है। शंकराचार्य के मत से जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता माया के कारण है। वास्तव में यह नानात्व मिथ्या है, पर वल्लभाचार्य के मतानुसार यह नानात्व सत्य है। माया ब्रह्म की एक शक्ति है जो परमात्मा को आवरण की भाँति ढके हुए है।

मुक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए वल्लभाचार्य ने आत्मा तीन प्रकार की मानी है—१. मुक्ति योगिन, २. नित्य संसारिन और ३. तमोयोग। नित्य संसारिन आत्मा की मुक्ति नहीं होती। तमोयोग आत्माएँ इनसे भी निकृष्ट हैं। मुक्तियोगिन आत्माएँ ही ऐसी आत्माएँ हैं, जो मुक्ति प्राप्त कर पाती हैं। मुक्ति परब्रह्म कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त होती है। इसी अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रखा है। उन्हों ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है—१. प्रवाह पुष्टि, २. मर्यादा पुष्टि, ३. पुष्टि-पुष्टि ४. और शुद्ध पुष्टि।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी परब्रह्म श्री कृष्ण की भक्ति कर सकता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना नाता तोड़ देता है और श्री कृष्ण के गुण-गान और कीर्तन-द्वारा भक्ति की साधना करता है। पुष्टि-पुष्टि में श्री कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, किन्तु साथ ही भक्त की साधना बनी रहती है। इसमें भक्त और भगवान दोनों क्रियाशील रहते हैं। शुद्ध पुष्टि भक्ति की सब से ऊँची श्रेणी है। इसमें भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित रहता है। यही भक्ति वल्लभ-सम्प्रदाय का चरम साध्य है। इसे प्राप्त करलेने पर भक्त का हृदय श्री कृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। इस पुष्टि मार्ग के अतिरिक्त मुक्ति का एक और मार्ग है जिसे उन्होने मर्यादा-मार्ग की संज्ञा दी है। यह ज्ञान और साधना का मार्ग है जिसके अनुसार परब्रह्म श्री कृष्ण की निर्गुण रूप में उपासना की जाती है। यह मार्ग कष्टसाध्य है, सर्वसुगम नहीं है। पुष्टि मार्ग सर्वसुगम है। उसका महत्त्व भी मर्यादा मार्ग से अधिक है। ज्ञान और योग से जो मुक्ति प्राप्त होती है वह भगवान के अनुग्रह-द्वारा प्राप्त की हुई मुक्ति से न्यूनतर है, घटिया है। पुष्टि-द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक मे पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है। संक्षेप में यही महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्त हैं।

इनके आलोक में सूर के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करने मे पता चलता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों की पूर्णरूपेण रक्षा नहीं की है। इसका कारण उनकी भक्ति-भावना का आवेश है। वह जिस रंग में रँगे हुए थे उसमें दार्शनिकता की गुन्जाइश ही नहीं थी। तुलसी की भाँति उन्हें कोई आदर्श भी उपस्थित करना नहीं था, फिर वह इस पचड़े में क्यों पड़ते। बीज रूप से उन्होंने पुष्टि मार्ग के जिन सिद्धान्तों को अपनाया, उन्हें आगे चलकर उन्होंने अपने रंग से रँग दिया। इसलिए हूबहू पुष्टि मार्ग के सिद्धान्त उनके सिद्धान्त नहीं हो पाये।

सूर के कृष्ण पूर्णब्रह्म है—निर्गुण भी और सगुण भी। भगवान का निर्गुण रूप देखिए। भगवान स्वयं कहते हैः—

को माता को पिता हमारे।

और सूर कहते हैं :—

पिता मात इनके नहिं कोई

आपुहि करता आपहिं भरता निरगुण गये तो रहत हैं जोई।

सूरसागर में अनेक स्थलो पर विष्णु, हरि आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है और इन देवताओं की वन्दना भी की गई है। उन्होंने राम और कृष्ण को समान महत्त्व दिया है, पर राम की लीला का विस्तार नहीं किया। उन्होंने राम, विष्णु, हरि, आदि नामों का प्रयोग कृष्ण के रूप मे ही किया है। ये निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूपों के नाम हैं। सूर विष्णु को भी परब्रह्म ही मानते हैं जो कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। उनके कृष्ण विष्णु और महेश से भी बड़े हैं। इसी परब्रह्म रूप कृष्ण को वह कभी जगदीश के नाम से और कभी यदुराई के नाम से सम्बोधित करते हैं। वह रामावतार और कृष्णावतार मे कोई भेद नहीं मानते। उनका मत है कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म और निर्गुण हैं। वह भक्तों के लिए कभी राम और कभी कृष्ण के रूप में अवतार लेते हैं। इस प्रकार भक्ति की भावना से निर्गुण

सगुण हो जाता है। त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—की सत्ता निर्गुण ब्रह्म से निम्न कोटि की है। लीलाधर कृष्ण इस पृथ्वी की लीला समाप्त करने के पश्चात् अपने लोक में चले जाते हैं और वहाँ उस समय तक निवास करते हैं जबतक उन्हें भक्तों के हित के लिए पुनः अवतार लेने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। भगवान के अनुग्रह से भक्त भी उसी लोक में निवास करता है। भगवान का निर्गुण रूप कष्ट-साध्य है। भक्ति के लिए भगवान का सगुण रूप ही सुलभ है।

सूर के मत से मुक्ति का साधन केवल भक्ति, सच्ची भक्ति है। पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग का उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं उल्लेख नहीं किया है, पर वह पुष्टि मार्ग पर अधिक ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार भक्त दुर्बल है। उसमें काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि अनेक प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हैं। इन प्रवृत्तियों से बचने का उपाय भगवान का अनुग्रह, उसकी भक्ति है। भक्ति का स्थान योग-वैराग्य से ऊँचा है। ज्ञान और वैराग्य में जबतक भक्ति का समावेश नहीं होता तबतक परब्रह्म का सामीप्य दुर्लभ है। भक्ति-द्वारा बिना ज्ञान और वैराग्य के भी भगवान का सानिद्ध्य प्राप्त हो सकता है। सूर की मुक्ति की कल्पना शुद्धाद्वैत की मुक्ति की कल्पना है। वह सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। उन्हें चाहिए सानिद्ध्य-मुक्ति जिसका अर्थ है मुक्ति के पश्चात् भगवान के साथ गोलोक मे निवास करना। सायुज्य-मुक्ति मे जीव और परमात्मा मिलकर एक हो जाता है, सानिद्ध्य-भक्ति में जीव अपनी सत्ता बनाये रखता है।

सूर ने माया का वर्णन तीन प्रकार से किया है। १. माया का दार्शनिक रूप २. माया का सांसारिक रूप और ३. माया का राधारूप। वल्लभाचार्य के समान सूर माया को ब्रह्म के वश में मानते हैं। उनके मत से ब्रह्म निर्गुण है—गुणरहित है। माया त्रिगुणात्मक है—सत्-रज-तम से मिलकर बनी है। इस सृष्टि का निर्माण माया अपने इन्हीं

तीनों तत्वों से करती है, किन्तु वह जो कुछ करती है भगवान की इच्छा से। स्वय वह इच्छाशून्य है। यह सृष्टि माया के वश में है और माया हरि के। माया की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है। प्रलय के पश्चात् परब्रह्म के चरणों में उसका तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की अभिव्यक्ति, उसका एक अंश मात्र है। माया का त्रिगुणात्मक रूप ही ब्रह्म को ढक लेता है। निराकार ब्रह्म पर माया आवरण डाल देती है। यह आवरण इतना मोहक है कि मानव-मन उसी में उलझ जाता है। इस प्रकार माया परब्रह्म को जीवात्मा की दृष्टि से छिपाकर अविद्या की जननी बनती है। अविद्या के अंधकार में जीवात्मा माया के आवरण को सत्य समझ बैठता है। एक प्रकार से अविद्या ही माया और माया ही अविद्या है। माया-सम्बन्धी सूर की इस कल्पना पर सन्तों का प्रभाव है, पर सन्तों की भाँति उन्होने उसके प्रति कटु भाव प्रदर्शित नहीं किया है। उन्होंने भक्त होने के नाते माया के अविद्या रूप को उतना ग्रहण नहीं किया जितना कि उसके भक्ति-भावना में बाधक रूप को। भक्त माया के मोहकारी रूप के सर्वदा निन्दक रहे हैं और सन्त उसके अज्ञान रूप के, अविद्या रूप के। माया का मोहकारी रूप कभी नारी बनकर, कभी पुत्र बनकर सामने आता है। सूर ने मोहकारी माया के इन दोनों रूपों का सर्वप्रथम चित्रण किया है। माया का एक तीसरा रूप भी है जिसे उसका अनुग्रहकारी रूप कहा जा सकता है। साहित्य में राधा ने इसी रूप का प्रतिनिधित्त्व किया है। यह रूप वस्तुतः प्रकृति का प्रतीक है। उमा, रमा, सीता और राधा प्रकृति की ही प्रतीक हैं। भगवान कृष्ण जब राधा से कहते हैं कि 'द्वै तनु, जीव एक हम-तुम, दोउ सुख कारण उपजाये', तब यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान ने प्रकृति—राधा—को प्रेमिका-रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार राधा अपने प्रेयसी रूप में सभी देवताओं की स्वामिनी हैं। जो उनकी उपासना करते हैं; वह भगवान की भक्ति प्राप्त कर लेते हैं। राधा-सम्बन्धी सूर की यह कल्पना हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काव्य में

अपना एक निजी महत्त्व रखती है।

सूर के भगवान श्री कृष्ण प्रेममय हैं। प्रेममय भगवान के लीला-गान में सूर का विषय भी प्रेम ही है। समस्त सूरसागर प्रेम की लम्बी-चौड़ी दिनचर्य्या का अथाह सागर है। प्रेम के विविध

सूर की प्रेम-साधना

रूपों की उसमें तरंगें उठती रहती हैं और अन्ततः भगवद्भक्ति में ही पर्यवसित हो जाती हैं। पुत्र और माता का प्रेम, पुत्र और पिता का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, भक्त और भगवान का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम, भाई-भाई का प्रेम, इन समस्त प्रकार के प्रेम-व्यापारों से सूरसागर भरा पड़ा है। सूर के इन प्रेम-व्यापारों में स्वार्थ-साधन की गंध नहीं है। वह अपनी प्रेम-साधना में, अपने प्रेम-निरूपण में बड़े सावधान रहे हैं। मिलन और वियोग दोनों अवसरों पर उन्होंने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। उनके प्रेम-निरूपण से उनके हृदय की विशालता और गंभीरता का यथेष्ट परिचय मिलता है। उनके प्रेम की परिभाषा निम्न प्रकार है :—

प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहि पइये।
प्रेम बंध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जेहि रे मिलैं गोपाल।

प्रेम प्रेम से उत्पन्न होता है। प्रेम से ही भव-सागर पार किया जा सकता है। प्रेम में समस्त संसार बँधा पड़ा है। प्रेम से ही परमार्थ प्राप्त होता है। एक प्रेम के निश्चय से ही रसीली जीवन-मुक्ति प्राप्त होती है। प्रेम का निश्चय ही सत्य है, क्योंकि वही भगवद्भक्ति का सुलभ साधन है। यह सत्य प्रेम विरहानुभव के बिना प्रस्फुटित नहीं होता। सूर कहते हैं :—

ऊधौ ! विरही प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंग को, रंग न रसे परै॥

ज्यों घर देह बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै।
ज्यों घट अनल दहत तन अपनों पुनि पय असी भरै॥
ज्यों रणशूर सहत शर सम्मुख तो रवि रथहि ररै।
सूर गोपाल-पंथ चलि करि क्यों कलियुग-दुखन डरै॥

यह है सत्य प्रेम के प्रस्फुटन के लिए विरह का महत्त्व ! इस महत्त्व को साधु-सन्तों ने, भक्तो ने समान रूप से स्वीकार किया है। सूर ने भी इसीलिए वियोगिनी गोपिकाओं तथा राधा के प्रेम के चित्र उतारे हैं। उन चित्रों मे जो तन्मयता है, जो उफान है, जो ज्वार है, जो वेदना और टीस है उसे सूर का वियोगी हृदय ही समझने मे सफल हुआ है। सूर अपने काव्य में सर्वत्र प्रेमी हैं। उनके भगवान प्रेम के भूखे हैं। भक्तों के प्रेम के कारण ही वह अवतार लेते हैं। प्रेम के कारण ही वह गर्भ की यातनाएँ सहते हैं, नन्द-पुत्र कहलाते हैं। भक्तों के प्रति भगवान का यही प्रेम-संकल्प भक्ति-काव्य का आधार है जिस पर हिन्दी-साहित्य के भव्य प्रासाद का निर्माण हुआ है। सूर हिन्दी-साहित्य में पहले कवि हैं जिन्होंने प्रेम की पुनीत गंगा में सब को नहलाया है।

सूर की काव्य-साधना का मुख्य ध्येय है प्रेम-निरूपण। अपने इस ध्येय में उन्हें पूरी सफलता मिली है। प्रेमी ही प्रेम के आघात-प्रतिघातों को समझता है। सूर सच्चे प्रेमी हैं। उनके हृदय में प्रेम का ज्वार उठता रहता है। वह प्रेम के आघात-प्रतिघातों को समझते हैं। इसलिए जीवन के विविध क्षेत्रों में जहाँ-कहीं भी प्रेम देखते हैं उसका चित्रण अपनी अनुभूति के बल पर करते हैं। उन्होंने माता का हृदय टटोला है, पिता के हृदय को परखा है, गोप-गोपिकाओं के हृदय मे प्रवेश किया है, राधा के हृदय मे घुस कर उनके प्रेम की परीक्षा ली है। सूरसागर में इसके अतिरिक्त और है ही क्या ? आदि से अन्त तक वह प्रेम के रंग में रंगा हुआ एक विशाल सागर है। उसमें प्रेम के स्फीत उद्गार हैं।

सूर की काव्य-साधना

पर सूरसागर प्रेमानुभूतियों का, कृष्ण और राधा की छेड़-छाड़ का, प्रेमी और प्रेमिका के लौकिक वर्णनों का ही काव्य नहीं है, उसका धार्मिक पक्ष भी वैसे ही अपने में सबल, पुष्ट और स्पंदित है। सूर ने जितने पद रचे हैं उनमें से प्रत्येक पद, प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द परब्रह्म कृष्ण की लौकिक लीलाओं की आदर्श झाँकी उपस्थित करने के साथ-साथ धार्मिक तत्त्व की भी स्थापना करता है। उनकी समस्त रचनाओं में प्रेम के दो पक्ष हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। इन दोनों पक्षों का सफल और मार्मिक चित्रण ही सूर के काव्य का लक्ष्य है। सूर ने वास्तव में प्रेम के लौकिक स्वरूप पर ही प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप का ताना-बाना बुना है। गोप-गोपिकाओं का, यशोदा का, राधा का, समस्त ब्रज मण्डल का कृष्ण के प्रति जो सहज अनुराग है, जो प्रेम-प्रदर्शन है वह है तो ऐहिक, ऐन्द्रिक; पर उसके मूल में सूर के आध्यात्मिक प्रेम का प्रस्फुरण हुआ है। सूरदास ने स्थान-स्थान पर 'गोपी-पद-रज-महिमा' गाई है। उनकी गोपियाँ ब्रह्म की शक्ति हैं जो लीला के लिए साकार हो गई हैं। इसी शक्ति को उन्होंने देवी-देवता और श्रुति माना है। भगवान और उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं, अतः कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। इसी प्रकार कृष्ण के बालसखा उनके परम भक्त हैं जो उनकी प्रत्येक लीला में उनके साथ विभोर रहते हैं। सारी ब्रज भूमि कृष्ण का लीला स्थल है, परब्रह्म का गोलोक है जहाँ साकार रूप में अपने भक्तों और अपनी शक्तियों सहित—गोप-गोपी, यशोदा-नन्द सहित विहार करते हैं। समस्त सूरसागर में सूर का यही दृष्टिकोण उन्हें भक्त और कवि बनाने में समर्थ हुआ है।

अब सूर सागर के विषय पर विचार कीजिए। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि उसमें कुल बारह स्कन्ध हैं। विषय के अनुसार इन स्कन्धों का विभाजन चार प्रकार से हो सकता है—

सूर के काव्य-विषय १. विनय और महिमा के पद २. अवतार की कथाएँ ३. कृष्ण की लीलाएँ और ४ दार्शनिक तत्त्व-

सम्बन्धी पद। विनय और महिमा के पदों में भगवान की प्रार्थना के पद, विनय के पद और भक्ति के पद हैं तथा सन्त-महिमा, गुरु महिमा सत्संग-महिमा आदि का वर्णन है। अवतार की कथाओं मे प्रायः सभी अवतारों को स्थान दिया गया है। कृष्ण की लीलाओं में वाल लीला, गोचारण, दानलीला, मानलीला, मुरली-माधुरी आदि का स्फीत चित्रण है। दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी पदो मे सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इस प्रकार इन समस्त विषयों के निरूपण से सूर सागर एक विशाल काव्य-ग्रन्थ बन गया। शास्त्रीय दृष्टि से इस काव्य की गणना मुक्तक काव्य, अथवा गीतात्मक काव्य में होती है। पर यदि प्रत्येक अवतार की कथा और लीला के पदों को क्रम से सम्पादित किया जाय तो एक नहीं अनेक खंडकाव्य बन सकते हैं। पर उसे, अपने सूरसागर को, खण्ड काव्यों का संग्रह बनाना सूर का प्रधान लक्ष्य नहीं है। सूर का लक्ष्य है कृष्ण-चरित्र का गुण-गान करना और उनके ब्रह्मत्व को प्रतिष्ठापित करना। इसीलिए सूर ने कथा-प्रसंगों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वह चाहते तो ऐसा कर सकते थे। उनमे काव्य-शक्ति थी; काव्य-क्षमता थी, कलाकारिता थी; पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह अपने दृष्टिकोण से सीमित थे। उससे बाहर जाकर वह अपने दृष्टिकोण की मर्य्यादा को भंग नहीं करना चाहते थे।

सूर की काव्य-कला का विकास सूरसागर के दशम् स्कन्ध मे हुआ है। यही इनकी काव्य-कीर्ति का स्थायी स्तम्भ है। इस में सूर सागर का लगभग तीन चौथाई भाग आ गया है। शेष स्कन्ध इसी स्कन्ध की भूमिका मात्र हैं। इसमें कृष्ण-चरित्र प्रधान है। कृष्ण के चरित्र-चित्रण में ही सूर का स्वतंत्र काव्य-कौशल और उनकी निजी विचार धारा का स्पष्टीकरण हुआ है। कृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिए सूर ने इस स्कन्ध में कृष्ण के जन्म से लेकर उनके बाल्य और कैशोर वय के चरित्र तथा उनका मथुरागमन और कंसवध तक की मुख्य घटनाओं का समावेश एवं संघटन किया है। इस प्रकार के एकत्री-

कारण से कृष्ण के जीवन की झाँकी भी मिल जाती है और अत्यन्त मनोरम रूप-सृष्टि तथा भाव-सृष्टि भी। इस विशेषता के साथ एक विशेषता उनके इस स्कन्ध के छन्दों में और है। सूर अपनी रचनाओं में सफल और मुक्तक कवि हैं। उन्होंने मुक्तक-काव्य की परम्परा का अपनी शब्द-योजना में सर्वथा ध्यान रखा है। उनका प्रत्येक पद स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन कराता है, घटना क्रम का आभास देता है, समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक देता है। और इन सब के साथ पूरा मानसिक चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। गोचारण तथा गोवर्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक हैं, पर उन कथाओं को सजाकर, सँवारकर सूर ने जिस कलात्मक ढंग से उनको भाव-गीतों का रूप दिया है वह सूर की कवित्व शक्ति का परिचायक है। सूर का प्रत्येक गीत घटना-प्रधान भी है और भाव प्रधान भी। इन दोनों के सामञ्जस्य-स्थापन में सूर को अवर्णनीय सफलता मिली है। उनकी समस्त रचनाओं में कहीं भावों ने कथा का रूप धारण कर लिया है और कहीं कथा ने भावों का। इसीलिए उनके गीतों में तीव्रता है, तन्मयता है, चुटीलापन है।

सूर की काव्य-कला की परख के लिए दशम स्कन्ध के मौलिक भाग को हम तीन मुख्य भागों में विभाजित करते हैं—१. बाल-लीला, २. राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण लीला और ३. भ्रमर गीत। कृष्ण की बाल-लीला दशम स्कन्ध का वात्सल्य रस-प्रधान अंश है। इसी अंश के चित्रण से सूर की काव्य-प्रतिभा का विकासारम्भ हुआ है। सूर ने अपने गीतों में कृष्ण के जन्म से उनकी तरुणावस्था तक के जो शाब्दिक चित्र उतारे हैं वे अपने में महान हैं। बाल-स्वभाव के वर्णन में वह बेजोड़ हैं। हिन्दी का ही क्यों, विश्व का कोई कवि इस क्षेत्र में उनके सामने नहीं टिक सकता। इसका मुख्य कारण है उनके हृदय की सरलता। सूर का हृदय बालकों का हृदय है। मातृ-हृदय का मर्म वह

समझते हैं। इसलिए बाल-स्वभाव के चित्रण में वह एक तरह का अपनापा अनुभव करते हैं। अपने इष्ट देव कृष्ण के बाल-रूप पर वह मुग्ध हैं और सौ-सौ तरह से उसका बखान करते हैं। उन्हें सन्तोष नहीं होता अपने बखान से, इसलिए बाल-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घुस कर वह बालकृष्ण की परम मनोरम झाँकी उपस्थित करते हैं। एक क्षेत्र से जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तब दूसरे क्षेत्र में, दूसरे से भी सन्तोष न होने पर तीसरे क्षेत्र में, इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में उनकी भक्तात्मा भ्रमण करती है और प्रत्येक क्षेत्र से एक-एक चित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रकार के चित्रों के एकत्रीकरण से भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तब वह कभी यशोदा के हृदय में बैठकर कृष्ण के बाल-रूप का आनन्द लेते हैं, कभी नन्द के हृदय में प्रवेश करके अपने सन्तोष-लाभ की चेष्टा करते हैं, कभी गोपों के साथ क्रीड़ा-स्थल में उछलने-कूदने लगते हैं, कभी गोचारण में उनके साथ जाते हैं, और कभी राधिका तथा बाल कृष्ण की छीना-झपटी का दृश्य देखकर प्रफुल्लित हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से वह कृष्ण की बाल-लीलाओं के चित्र उतारने में समर्थ होते हैं। सूर के इस प्रकार के चित्र चार भागों में विभाजित किये जा सकते हैं :—
१. रूप-सौन्दर्य के चित्र, २. चेष्टाओं और क्रीड़ाओं के चित्र, ३. अन्तर्भावों के चित्र और, ४. संस्कारों, उत्सवों तथा समारोहों के चित्र।

रूप-सौन्दर्य के चित्र प्रस्तुत करने में सूर ने बालकृष्ण के लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों पर ध्यान रखा है। बालकृष्ण जन्म लेते ही अपने अलौकिक, अपने विराट् रूप का दर्शन कराते है और इस प्रकार वह अपनी माता के हृदय पर यह छाप छोड़ देते हैं कि वह परब्रह्म हैं। अनेक स्थलों पर, अनेक अवसरों पर, असुरों के वध के समय वह अपने इस रूप का परिचय सब को देते हैं, पर इतना जानते हुए भी उनके लौकिक चरित्रों में इतना आकर्षण है, इतनी तन्मयता है कि उनका वह रूप शीघ्र सामने नहीं आता, इसलिए सूर के रूप-

सौन्दर्य-स्थापन में काव्य कला की दृष्टि से कोई बाधा नहीं पड़ती। बालकृष्ण की चेष्टाओं तथा क्रीड़ाओं के चित्र भी रूप-सौन्दर्य के चित्रों की भाँति मनमोहक हैं। कृष्ण कभी मचलते हैं, कभी नाचते हैं, कभी परछाईं पकड़ते हैं, कभी नन्द के साथ खाना खाने बैठते हैं, कभी झूठ भी बोलते हैं। इन समस्त बाल-लीलाओं से बाल-जीवन का सहज सौन्दर्य फूटा पड़ता है। कृष्ण नटखट बालक हैं; बाल चपलता उनकी नस-नस में भरी हुई है। माखन चुराकर खाने, मे पनिहारियों को तंग करने में, चलते हुए लोगों के साथ छेड़खानी करने में, दही और दूध लूटने में, गोपिकाओं का वस्त्र नोचने मे, खेल में बाजी हार जाने पर दाँव न देने मे, अपनी बारी आने पर सब को थका देने में, मीठी मीठी बातें बनाने मे, झूठ बोलने में वह सिद्धहस्त हैं। झूठ बोलने और बातें बनाने का एक उदाहरण लीजिए :—

मैया ! मै नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछ कहत नँद नन्दन दोना पीठ दुरायो।
डारि साँट मुस्काई तबहिं, गहि सुत को कंठ लगायो।

कौन ऐसी माता है जो अपने बालक के इस भोलेपन पर न रीझती हो ! पर सभी अवसरों पर बालकों का यह जादू नहीं चलता। इस बार तो वह झाँसा-पट्टी पढ़ाकर बच गये। यशोदा ने उन्हें गले लगा लिया, पर उलाहना मिलने पर, अधिक शरारत करने पर वह पीटे गये हैं और खूब पीटे गये हैं। ऐसे अवसरों पर यशोदा ने उन्हे क्षमा नहीं किया है। अब अन्तर्भावों के चित्र लीजिए। सूर ने इस क्षेत्र मे भी कमाल किया है। बालकों के हृदय मे स्वाभाविक रूप से जो भाव उठा करते हैं उनका चित्रण भी सूर ने उनके हृदय में पैठ कर किया है। बाल कृष्ण की स्पर्धा का इन पंक्तियों में रस लीजिए :—

मैया ! कबहि बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी-ज्यों ह्वै है लांबी मोटी ॥

सूर के वात्सल्य का वर्णन कृष्ण जन्म से होता है। इसलिए सूर ने विविध उत्सवों का वर्णन बड़ी सफलता से किया है। छठी-व्यवहार वर्णन, अन्नप्राशन लीला, वर्ष गाँठ लीला, कनछेदन लीला, घुटरुवनि चलनि, पायनि चलनि इत्यादि की बड़ी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन झाँकियों का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। यशोदा के लिए जो वात्सल्य भाव है वही भक्तों की भक्ति की आधार-शिला है, सर्वस्व है।

कृष्ण की बाल्यावस्था के चित्रण के बाद सूर ने उनकी प्रेममयी लीलाओं के भी चित्र उतारे हैं। कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ उनकी तरुणावस्था के पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाती हैं। बाल्यावस्था में गोपियों के साथ कृष्ण की जो छेड़-छाड़ है वह तरुणाई आते-आते प्रेम में परिणत हो जाती है। पहले कृष्ण की छेड़-छाड़ राधा से होती है। राधा कृष्ण-प्रेम की प्रयोग-कर्त्री हैं। वह स्वतः प्रेम की साकार प्रतिमा हैं। कृष्ण के प्रति उनका व्यक्तिगत प्रेम है। वह कृष्ण के समस्त प्रेम को अपने में ही केन्द्रीभूत करना चाहती हैं। पर भक्त-कवि सूर को यह स्वीकार नहीं है। कृष्ण का प्रेम एक के लिए नहीं सब के लिए है। कृष्ण में सब को प्रेम करने का अधिकार है। कृष्ण भी किसी एक को अपना प्रेम नहीं देना चाहते। इसलिए सूर ने गोपियों की कल्पना की है। यही गोपियाँ कृष्ण के प्रेम की प्रचारिका हैं। उन्हीं के द्वारा व्रज के कण-कण में कृष्ण का प्रेम व्याप्त होता है। भक्ति की बेलि इसी कण में से अंकुरित, पल्लिवत और पुष्पित होती है। इस प्रकार सूर की प्रेम-साधना व्यक्तिगत प्रेम की संकुचित परिधि से निकलकर सामाजिक रूप धारण करती हुई भक्ति-पथ का अनुसरण करती है और अन्ततः शान्त रस में परिणत हो जाती है। यह है

सूर की प्रेम-साधना का आदर्श जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने प्रेम के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों में सफलतापूर्वक सामञ्जस्य स्थापित किया है। सूर की काव्य-कला का विकास इसी प्रकार के समन्वय में हुआ है।

राधा कृष्ण की समानाधिकारिणी प्रेमिका हैं। उनकी श्री शोभा पर कृष्ण और कृष्ण की श्री शोभा पर वह मुग्ध हैं; उनमें संयोग भी होता है। आरंभ में कृष्ण का उनके प्रति विशेष आकर्षण भी है, पर कृष्ण अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं। इसलिए वह राधिका के प्रेम का समाजीकरण करते हैं और गोपियों को भी अपने प्रेम की अधिकारिणी बनाते हैं। इससे प्रत्येक गोपी राधा बन जाती है। इस प्रकार भक्ति-भावना का अंकुर फूट पड़ता है और प्रेमी कृष्ण आराध्य कृष्ण बन जाते हैं। राधिका व्यक्तिगत प्रेम को साधिका हैं। इसलिए कृष्ण के प्रेम के व्यापक रूप को देखकर वह मान करती हैं। मान का अर्थ है राधा का अपने को अन्य गोपियों से पृथक समझना। कृष्ण राधा के मान-मदन के लिए रास का आयोजन करते हैं और इसमें सहस्रों गोपियों के साथ सम्मिलित होकर कृष्ण को मथुरा गमन करना पड़ता है। अपने इस कार्य में कृष्ण को सफलता मिलती है। वह राधा का मान मर्दन करने में सफलीभूत होते हैं। जब राधा का गर्व दूर हो जाता है तब कृष्ण पुनः उनके पास आते हैं। इस प्रकार सूर ने कृष्ण के समस्त व्यापारों को एक रहस्यात्मक रूप दे दिया है।

लौकिक दृष्टि से राधा का प्रेम आदर्श प्रेम है। बाल्यावस्था में कृष्ण और राधा में जो मित्रता है वह तरुणाई में प्रणय का रूप धारण कर लेती है। सूर ने दोनों समय के बड़े सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। गोपियों से प्रेम करने पर राधा उसी तरह खीजती हैं जिस प्रकार एक नारी अपने प्रेमी के दूसरी स्त्रियों के प्रति आकर्षित होने पर। इतना होते हुए भी सूर ने गोपियों को अपने काव्य में इतना महत्त्व दे दिया है कि कृष्ण का विकृत रूप ही पाठक के सामने आता

है। कहने का तात्पर्य यह है कि राधा के एकान्तिक प्रेम का समाजीकरण करने के लिए गोपियों के प्रेम की अतिरंजना ने कृष्ण को दुराचारी के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका भावी साहित्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण के इसी प्रेम को लेकर उनसे जो कुछ कराया वह स्पष्ट है। उनके बचाव के लिए यह कहा जा सकता है कि यह सूर के आदर्श का नहीं, सूर की शैली का दोष है। मुक्तक काव्य में कृष्ण की लीलाओं के आध्यात्मिक पक्ष का जो निरूपण हुआ है, उससे बढ़कर हो ही नहीं सकता था। ठीक है, पर सूर ने भावी साहित्यकारों का ध्यान अपनी लीलाओं के वर्णन में नहीं रखा। बस, यही उनका दोष है।

सूर का चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सूर अपनी सीमा के भीतर बहुत सफल हुए हैं। सूर के कृष्ण लीला-पुरुष हैं। सूर सागर की समस्त लीलाओं का सीधे उन्हीं से सम्बन्ध है। वह प्रत्येक लीला के केन्द्र हैं और उनकी प्रत्येक लीला अपने में पूर्ण है। उनके कार्य-क्षेत्र दो हैं—व्रज और मथुरा। व्रज में हमें उनके शैशव, बाल-रूप, और तरुण-रूप के दर्शन होते हैं। इसके पश्चात् वह मथुरा चले जाते हैं। मथुरा में हमें उनके राज-रूप का दर्शन होता है। अपने इन समस्त रूपों में कृष्ण लौकिक भी हैं, अलौकिक भी। सूर ने उनके इन दोनों रूपों का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। कृष्ण अपनी बाल्यावस्था और यौवन-काल में जितने चपल हैं उतने ही राजा होने पर शान्त हैं। उनमें अपार सौन्दर्य, अपार शक्ति है। वह अपने सहज सौन्दर्य से चर, अचर, देव, किन्नर सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं और अपनी शक्ति से सब को चमत्कृत कर देते हैं। सूर ने उनके राजत्व-काल का चित्रण नहीं किया है। उनके मथुरा चले जाने पर सूर की आत्मा व्रज में ही निवास करती है। सूर अपनी आँखों से उनका जो वैभव व्रज में देख चुके हैं उसके सामने उनका राज-वैभव तुच्छ है।

राधा पहले प्रेमिका के रूप में हमारे सामने आती हैं। वह अपनी प्रेम-निष्टा में बेजोड़ हैं। कृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ उनके प्रेम का विकास हुआ है। वह कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की अनन्य पुजारिन हैं और उनके प्रेम को व्यक्तिगत रूप से भोगना चाहती हैं। वह आदर्श नारी हैं। उनके प्रेम में ऐहिकता नहीं, आध्यात्मिकता है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन्हें जो दुःख होता है उसे वही जानती हैं। सीता की भाँति वह अपने वियोग में मूक हैं, शान्त हैं। उनमें आह-कराह नहीं है। वह बड़े संयम से वियोगजन्य दुःख को सहन करती हैं।

सूर ने गोपियों का चित्र एक अत्यन्त विशाल चित्रपट पर अंकित किया है। इस चित्रपट की वीथिका ब्रज भूमि ने प्रस्तुत की है। उन की संख्या कहीं-कहीं सोलह हज़ार है। वह प्रत्येक अवस्था में कृष्ण का साथ देती हैं। समस्त लीलाओं में प्रधान भाग उन्ही का है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक लीला का आयोजन उन्हीं के बल पर किया गया है। बचपन से वे कृष्ण के साथ हैं और मथुरा गमन तक उनके साथ रहती हैं। उनका चित्रण अत्यन्त सरल, अत्यन्त मधुर तथा परस्पर कपट-विहीन नायिकाओं के रूप में हुआ है। सूर ने उनका वर्गीकरण नहीं किया है और न उनके वस्त्र, रूपादि का ही परिचय दिया है। उनके मनोविज्ञान में कोई विभिन्नता भी नहीं है। सब एक हैं और एक सब हैं। वे लौकिक दृष्टि से परकीया, पर आध्यामिक दृष्टि से स्वकीया हैं।

यशोदा के चरित्र में मातृत्व प्रधान है। वह कृष्ण की माता हैं, ग्रामाधिपति की पत्नी हैं, पर अपनी इन परिस्थितियों का उन्हे गर्व नहीं है। वह अत्यन्त सरलहृदया हैं। कृष्ण उनकी प्रौढ़ावस्था के पुत्र हैं, इसलिए कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा है, उसमें उफान आ गया है। उनका प्रत्येक क्षण बालकृष्ण में केन्द्रित रहता है। सूर ने नंद के चरित्र की ओर इतना ध्यान नहीं दिया है जितना कि यशोदा की ओर। पर यशोदा के साथ-साथ उनका भी

चरित्र-चित्रण हो जाता है। दोनों में समान रूप से वात्सल्य-भाव का विकास हुआ है। नंद उतने भावुक नहीं हैं, जितनी यशोदा हैं।

गोप कृष्ण के सच्चे सखा के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनमें जो प्रौढ़ हैं वे वात्सल्य-भाव से श्री कृष्ण की लीला में भाग लेते हैं और जो किशोर अथवा युवा हैं वे सखा के रूप में। वे देवताओं के अवतार माने गये हैं। उद्धव भी श्री कृष्ण के सखा हैं। भक्त नहीं, ज्ञानी हैं। उनका ज्ञान-गर्व तोड़ने के लिए कृष्ण मथुरा से उन्हें ब्रज में गोपियों को निराकार उपासना की शिक्षा देने के लिए भेजते हैं। ज्ञानी पण्डित होने के कारण सांसारिक बातों से वह बहुत कम परिचित हैं; इसलिए गोपियाँ उन्हें बात की बात में परास्त कर देती हैं। इस प्रकार सूर के उद्धव भागवत के उद्धव से भिन्न हो जाते हैं। भागवत के उद्धव अपनी निर्गुण उपासना के प्रचार में विजयी होते हैं। सूर के उद्धव ज्ञानी हैं अवश्य, पर उनमें उतना पांडित्य नहीं है जितना कि भागवत के उद्धव में। सूर को ऐसा करना अभीष्ट नहीं है; मुक्ति-प्राप्ति में वह ज्ञान मार्ग को अधिक उपयोगी नहीं समझते। भागवत में भक्ति के साथ ज्ञान की महिमा है और सूर-साहित्य में भक्ति की महिमा ज्ञान की अपेक्षा अधिक है। इसीलिए सूर ने अपने उद्धव को गोपियों से परास्त करा दिया है।

सूर-साहित्य के नायक श्रीकृष्ण हैं। ब्रज भूमि उनका रंग स्थल है। यहीं उनकी लीलाओं का उदय और विकास हुआ है। भक्त होने के नाते सूर की आत्मा ब्रज भूमि तथा उसकी वन-वीथियों तक ही सीमित है। स्वभावतः उन्हें उन समस्त स्थानों से अगाध प्रेम है जहाँ भगवान कृष्ण ने लीलाएँ की हैं। उन्हें गोकुल-निवास में ही परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसी दशा में उन्हों ने गोकुल के आस-पास के प्राकृतिक चित्र प्रस्तुत किये हैं। अपने ऐसे चित्रों में उन्हों ने अपने नायक इष्ट देव को पृथक नहीं रखा है। उनके प्राकृतिक काव्य में कृष्ण, ब्रज

सूर का प्रकृति-वर्णन

मण्डल और प्रकृति—तीनो मिलकर एक हो गये हैं। उन्होंने प्रकृति के बड़े कोमल चित्र अंकित किये हैं। उनकी प्रकृति आनन्दमयी है। गोपियाँ अपनी वियोगावस्था में उसके आनन्दमय रूप को सहन नहीं कर सकतीं। 'मधुबन ! तुम कत रहत हरे' में गोपियों का यही व्यंग व्यक्त हुआ है। सूर का प्रकृति-वर्णन अधिकांश गोचारण, शृंगार तथा वात्सल्य के क्षेत्रों में सीमित है। कृष्ण के जन्म और तदनन्तर उनकी लीला में साथ देने के कारण अस्पष्ट रूप से ब्रज की प्रकृति का थोड़ा-सा अपना व्यक्तित्व भी विकसित हो गया है। कृष्ण के जन्म लेते ही हम उसे उनकी लीला में साथ देने के लिए उत्सुक पाते हैं। इसके बाद बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब ब्रज के लता कुंज और उसकी ऋतुएँ राधा कृष्ण के मिलन के लिए साधन उपस्थित करती हैं। संयोग शृंगार के अवसर पर प्रकृति राधा-कृष्ण के आनन्द में वृद्धि करती है। वियोग में प्रकृति का अधिक रूप निखर आता है। ब्रज की प्रकृति गोपियों के अन्तस्तल का दर्पण है। संयोग और वियोग का प्रभाव जिस प्रकार गोपियों पर पड़ता है उसी प्रकार प्रकृति पर भी। वियोग में यदि 'नाचत नहीं मोर ता दिन तें बोले न वर्षा काल' तो संयोग में 'किलकि किलकि कुल सहित आप कोकिल मंगल गायो।'

सूर ने प्रकृति के कोमल अंगों का चित्रण ही विशेष रूप से किया है। संयोग की लीलाओं में उद्दीपन के लिए उन्होंने प्रकृति को महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है, पर वियोग के उद्दीपन के लिए उन्होंने प्रकृति का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी प्रकृति को भयानक रूप में भी देखा है। कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् उनका प्रकृति-चित्रण के प्रति जो दृष्टिकोण है उसमें परिवर्तन हो जाता है। वह गोपियों को अपना माध्यम बनाकर और उन्हीं की आँखों से देखकर प्रकृति का चित्रण करते हैं।

सूर-साहित्य में रसों का बड़ा सुन्दर आयोजन हुआ है। उसमें

संग्रहीत विनय के पदों में शान्त रस है। शान्त रस के परिपाक के लिए अधिक आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः इन पदों में सूर ने जो कुछ कहा है वह काव्य-कला की दृष्टि से नहीं, वरन् अपनी आत्मा के स्पष्टीकरण के लिए। उनकी बाल कृष्ण-लीला-सम्बन्धी

सूर की रस-योजना

रचनाओं में वात्सल्य रस की बाढ़-सी आ गई है। इस रस के परिपाक में वह बेजोड़ हैं। संयोग और वात्सल्य के उनके चित्रण बड़े अनूठे हुए हैं और उसके परिपाक के लिए उन्होंने सम्यक् सामग्री भी एकत्र की है। माता के हृदय की प्रत्येक स्थिति का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण उन्होंने किया है वैसा किसी साहित्य में नहीं है। उन्होंने बाल-सौन्दर्य के विविध दृष्टिकोणों से जो चित्र उतारे हैं उनमें सजीवता, आकर्षण और तन्मयता है। वात्सल्य की भाँति शृंगार रस के निरूपण में भी सूर को अपूर्व सफलता मिली है। उन्हों ने संयोग और वियोग दोनों के मनोरम चित्र प्रस्तुत किये हैं। इस रस के गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण आलम्बन हैं। दोनों प्रेम-प्रसंगों के दो भाग हैं—संयोग और वियोग। बालकृष्ण का सौन्दर्य और उनकी बाल-क्रीड़ा गोपियों के हृदय में स्थायी भाव-रति-उत्पन्न करती है जिसका विकास माखनचोरी आदि प्रसंगों में होता है। मथुरागमन के पश्चात् वियोग शृंगार का चित्रण प्रस्तुत होता है। इसका चित्रण दो प्रकार से हुआ है—१. उद्धव के आने से पहले और २. उद्धव के आने पर। इन दोनों अवसरों पर सूर ने अनेक दशाओं का सफल चित्रण किया है। उद्धव के व्रज में आने से पूर्व के वियोग के चित्रों में विरह की एकादश दशाओं का चित्रण हुआ है और उद्धव के आने पर प्रेम की अनन्य तन्मयता ही सर्वत्र प्रतिध्वनित हुई है। सूर ने अनेक अवसरों पर हास्य की भी सृष्टि की है; पर उनका हास्य स्मित हास्य है। वह सदैव शिष्ट और मर्यादित रहता है। भ्रमर गीत में उद्धव को गोपियाँ खूब बनाती हैं। हास्य और व्यंग का पुट वहाँ देखने योग्य है। अद्भुत रस के प्रसंग

भागवत से लिये गये हैं। इन प्रसंगों में सूर की मौलिकता नहीं है। वात्सल्य में अद्भुत का मेल उन्होंने बड़े कौशल से किया है। करुण रस गोपियों की निराशा में अपने परिपाक को पहुँचा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने प्रायः कोमल रसों के उद्घाटन में ही अपनी काव्य-कला का विशेष रूप से परिचय दिया है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं—१. शब्दालंकार और २. अर्थालंकार। शब्दालंकारों में सूर ने यमक, अनुप्रास, अलंकार-योजना और वीप्सा का विशेष रूप से प्रयोग किया है। यमक का प्रयोग दृष्टकूट-सम्बन्धी पदों में अधिकता से मिलता है। उसके प्रयोग से उन्होंने राधा और कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना की है। अनुप्रास का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। उसके द्वारा काव्य में ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है और वातावरण की सृष्टि हुई है। वीप्सा का प्रयोग राधा-कृष्ण के अंग-वर्णन के सम्बन्ध में हुआ है। इसके द्वारा साधारण सौन्दर्य को असाधारण रूप दिया गया है।

अर्थालंकार का प्रयोग शब्दालंकार की अपेक्षा अधिक हुआ है। सूर ने सादृश्य-धर्ममूलक अलंकारों का ही प्रयोग विशेष रूप से किया है। इनमे उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप मुख्य हैं। विरोधमूलक अलंकारों मे विभावना और वक्रोक्ति आदि की गणना की जा सकती है। उपमा का प्रयोग सूर-साहित्य मे बहुत हुआ है। रूपक भी सूर को बहुत प्रिय हैं। सांग रूपक का प्रयोग करने मे वह बहुत कुशल जान पड़ते हैं। उनके रूपक छोटे, गंभीर और सलिष्ट होते हैं। उत्प्रेक्षा से तो सूर-साहित्य भरा पड़ा है। उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का ही प्रयोग हुआ है।

सूर-साहित्य के भाव एवं कला-पक्ष पर सरसरी दृष्टि से विचार करने के पश्चात् अब हम उसकी अन्य विशेषताओं पर विचार करेंगे।

सूर-साहित्य की अन्य विशेषताएँ

हम यह देखेंगे कि उन्होंने काव्य की शास्त्रीय परम्परा की सीमा से बाहर निकलकर किन-किन बातों को अपने साहित्य में स्थान दिया है। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तब हमें उनके साहित्य में निम्नलिखित बातें मिलती हैं:—

१. **अलौकिक घटनाओं का सन्निवेश**—सूर ने अपने साहित्य में बहुत-सी अलौकिक घटनाओं का सन्निवेश किया है। कृष्ण-जन्म के अवसर पर प्रकृति का भीषण रूप धारण कर लेना, यमुना का कृष्ण के चरण-स्पर्श के लिए भयानक रूप धारण कर लेना, जन्म के समय कृष्ण का विराट-रूप दिखाना, बाल-रूप में कृष्ण का कालियानाग पर विजय दिखाना, मुरली का आश्चर्यजनक प्रभाव, गोवर्धन-धारण आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी सत्यता पर मानव-बुद्धि को सन्देह होता है, पर सूर को इन अलौकिक घटनाओं द्वारा अपने इष्टदेव श्री कृष्ण के चित्रण में सहायता मिली है। उन्होंने इन कथाओं को भागवत् से लेकर अपने साहित्य में ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया है।

२. **युग के चित्रों का सन्निवेश**—सूर ने अपने साहित्य में अपने युग के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। इन चित्रों को देखकर उनके युग का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से वह अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके समय में समाज का कोई आदर्श नहीं था। सामाजिक जीवन शुष्क और नीरस हो चला था। जीवन में विलासिता आगई थी। परकीया के प्रति प्रेम का चलन बढ़ता जा रहा था। बहुपत्नीत्व की प्रथा ज़ोरों पर थी। सूरदास कहते हैं :—

> यौवन मद, जनमद, मादक मद, धन मद, विधमद भारी।
> काम विवश परनारि भजत दुइ पंचशरहि फिरि मारी॥

यह तो हाल था समाज का। ऐसे समाज में नाना प्रकार के मत-मतान्तरों ने अपना घर बना लिया था। नाथ-पंथी योगियों की उस समय प्रधानता थी। जिसे देखो वही योगी बनकर कान फूंकने के लिए

समाज को ठगता फिरता था। देखिए उद्धव से गोपियाँ क्या कहती हैं:—

ऊधो! तुम हो निकट के वासी।
यह निर्गुण लै ताहि सुनावहु जो मुड़िया बसैं कासी।

सूर ने अपने युग को आँखें खोल देखा और उसे समझा और उसके अनुरूप अपनी भक्ति-भावना का प्रचार किया। उनकी भक्ति में परकीया के प्रेम को भी स्थान मिला और स्वकीया के प्रेम को भी। उन्होंने भगवान का लौकिक रूप भी दिखाया और अलौकिक रूप भी। इस प्रकार उन्होंने अपने इष्ट देव में उस युग की अच्छाई और बुराई, दुर्बलता और सबलता सभी बातों का सन्निवेश किया और सब की अभिलाषाओं, आकांक्षाओं और आशाओं को उनमें केन्द्रित करके उनका संस्कार किया।

३. तत्कालीन समाज के आचार-विचार—सूर-साहित्य से हमें तत्कालीन समाज के आचार-विचारों का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इन लौकिक आचार-विचारों का सम्बन्ध सीधे कृष्ण के जीवन से रहा है। जन्मोत्सव, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन; वर्षगाँठ, कर्ण-भेद, गोवर्धन-पूजा, व्रत, त्योहार, विवाह आदि-सम्बन्धी रीति-रिवाजों का पूरा-पूरा चित्र उन्होंने खींचा है। इससे सूर के लौकिक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है।

लौकिक एवं सामाजिक आचारों के साथ-साथ सूर के साहित्य में साम्प्रदायिक आचारों को भी स्थान मिला है। इस प्रकार के आचारों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. नित्य आचार और २. नैमित्तिक आचार। सूर श्रीनाथ जी के मन्दिर के कीर्तन-कारी थे। इसलिए उन्हें इन दोनों प्रकार के आचारों का व्यक्तिगत अनुभव था। उनके नित्य के आचारों में मंगलाचरण, शृंगार, ग्वाल, राजभोज, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन की पूर्ण व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त हिंडोला, चाचर, फाग, बसन्त आदि

नैमित्तिक आचार थे। इन समस्त आचारों में कीर्तन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। सूर स्वयं अच्छे गायक थे। इसलिए भगवान के कीर्तन में उन्हे विशेष अभिरुचि थी।

४. सूर साहित्य में मुरली का स्थान—भगवान की माधुरी चार प्रकार की बताई गई है—१. ऐश्वर्य-माधुरी, २. क्रीड़ा-माधुरी, ३. विग्रह-माधुरी और ४. वेणु-माधुरी। हम प्रथम तीन का दिग्दर्शन अन्यत्र करा चुके हैं। इसलिए यहाँ हम भगवान की वेणु-माधुरी पर ही विचार करेंगे। सूर ने वेणु-माधुरी का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। भागवत् मे बताया गया है कि भगवान जब अपनी मुरली को अपने कोमल अधरों पर रखते हैं और जब उससे स्वर निनादित होता है तब सर्वज्ञ होकर भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवतागण मुग्ध हो जाते हैं। सूर ने मुरली को इसी भाव से अपने साहित्य में स्थान दिया है। उनके कृष्ण की मुरली से निकला हुआ संगीत विश्व-संगीत है जिसमे अद्भुत तन्मयता और विचित्र आकर्षण है। गोप-गोपियाँ ही नहीं, सारा व्रज उनकी मुरली पर मस्त है। पशु-पक्षी, गौये आदि उस मुरली से निकली हुई मधुरध्वनि पर आत्म-विभोर हो जाती हैं। कृष्ण की मुरली मे ऐसा जादू है जो चर-अचर को पागल बना देता है। उन्हें अपनी मुरली बहुत प्रिय है। हर समय, खाते-पीते, खेलते-कूदते, उठते-बैठते, सोते, जागते वह उनके साथ रहती है, उनके अधरों पर बैठती है। मुरली का इतना दुलार देखकर गोपियाँ उससे ईर्ष्या रखती हैं। ऐसी है मुरली! इस मुरली का बखान कौन कर सकता है! सूर साहित्य में यह मुरली कहीं उद्दीपन का काम करती है, कहीं रूपक की सृष्टि करती है, कहीं रहस्यवादी बन जाती है और कहीं अलौकिक चरित्र प्रदर्शन करती है। नाना रूप है इस मुरली के। कृष्ण की भाँति उनकी मुरली भी नानारूपिणी है और भक्तों की भक्ति-भावना का आधार है।

५. सूर साहित्य मे भाग्यवाद—सूर अपनी रचनाओं में बड़े

भाग्यवादी हैं। उनकी सम्मति में भाग्य बड़ा प्रबल है। किसी बात के लिए आयोजन प्रयत्न करने पर भी वह नहीं होता है जो भाग्य में लिखा होता है। इसलिए वह भाग्य की उपेक्षा करते हैं। वह कहते हैं :—

करी गोपाल की सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोय।
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल ये सब डारहु धोय।
जो कुछ लिखि राखी नँदनन्दन मेटि सकहि नहि कोय।

सूर के उपर्युक्त पद में भाग्य को जो महत्त्व दिया गया है उस पर सूर के समय का प्रभाव है। उन्होंने अपनी आँखों से भारतीय इतिहास का वह समय देखा था जब हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े जा रहे थे, उनकी स्त्रियों की आबरू मिट्टी में मिलाई जा रही थी और उनके धर्म पर आघात हो रहे थे। इन अत्याचारों को रोकने की किसी में भी सामर्थ्य नहीं थी। जिन लोगों में थोड़ी बहुत थी भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो रहे थे। भक्त और व्यभिचारियों में कोई भेद नहीं किया जा रहा था। ऐसी दशा में पड़कर मनुष्य अपने भाग्य पर ही भरोसा करता है। सूर के भाग्यवाद में भी यही बात है, पर ऐसा भाग्यवाद राष्ट्र में चेतना और स्फूर्ति नहीं भर सकता; जनता को कर्मशील नहीं बना सकता। निराशाजन्य भाग्यवाद देश और समाज के लिए घातक होता है। इस दृष्टि से सूर के भाग्यवाद की हम प्रशंसा नही कर सकते। तुलसी का भाग्यवाद इससे कहीं उत्कृष्ट और महान है।

६.सूर साहित्य का रहस्यवादी पक्ष—रहस्यवाद की परिभाषा हम कबीर-साहित्य की आलोचना के सम्बन्ध में बता चुके हैं। हम यह कह चुके हैं कि रहस्यवाद हृदय की वह स्थिति है जहाँ आत्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है। उस समय आत्मा अपनी सत्ता भूल जाती है। भक्त अथवा संत जब ऐसी दशा में आता है तब उसकी वाणी रहस्यमयी हो जाती है। पर सन्तो का रहस्यवाद भक्त कवियों

के रहस्यवाद से भिन्न प्रकार का होता है। सन्त निर्गुणवाद के समर्थक होते हैं और भक्त सगुणवाद के। इस दृष्टि से रहस्यवाद भी दो प्रकार का होता है— १. पार्थिव अथवा सगुण रहस्यवाद और २. अपार्थिव अथवा निर्गुण रहस्यवाद। सूर भक्त कवि हैं। इसलिए उनका रहस्यवाद सगुण रहस्यवाद है। उन्होंने अपने सगुण रहस्यवाद के पदों में अन्योक्ति पद्धति का अनुसरण किया है और रूपक के सहारे नकारात्मक रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। 'चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन-वियोग' उनका एक प्रसिद्ध रहस्यवादी पद है। इस पद में उन्होंने एक परोक्ष जगत् की एक धुँधली-सी झलक दिखाई है। ऐसे पदों में जो तन्मयता है वह कबीर के रहस्यवादी पदों में नहीं है। सूर ने अपने रहस्यलोक को अधिक मूर्त्त, भावमय, सुन्दर, सरस और स्पष्ट बना दिया है। उनके रहस्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :—

१. सूर ने सामान्य द्वारा असामान्य की व्यंजना की है। इस से उनके रहस्यवादी पद अधिक स्पष्ट और सरस हो गये हैं।

२. असामान्य गुणों को प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने या तो नकारात्मक पद्धति का अनुसरण किया है या फिर सामान्य वस्तु को ही कोई विशेष गुण प्रदान कर दिया है।

३. रूपक के प्रयोग में रहस्यात्मक चित्र बड़े स्पष्ट उतरे हैं। कबीर ने भी रूपकों का आश्रय लिया है, पर उनकी रूपक-योजना दुरूह है। काव्य-कला से वह परिचित नहीं हैं।

४. सूर ने अपनी रहस्यात्मक अन्योक्तियों में चकई, सखि, भृंगी और सुवे को सम्बोधन किया है। ये सब आत्मा के प्रतीक हैं।

७. सूर के दृष्टकूट-पद—ज्ञान और साधना का क्षेत्र कष्टसाध्य होता है। बड़ी बड़ी मुसीबतें झेल कर साधु-सन्त ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अर्जित ज्ञान की ओर उनका लोभ स्वाभाविक होता है। वे अपने ज्ञान को साधारण जनता की वस्तु नहीं बना देना चाहते। उपयुक्त

पात्रों को ही वे ज्ञान-दान देते हैं। इसीलिए हमारे धार्मिक ग्रंथों में बहुत कुछ प्रतीक रूप में कहा गया है। हिन्दी में हमें इस प्रकार की प्रवृत्ति का परिचय सर्वप्रथम सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। नाथपंथी हठयोगियों और कबीरपंथी साधुओं ने भी साधना-द्वारा-प्राप्त ज्ञान को छिपाने की चेष्टा की है। कूट-पद इसी प्रकार की चेष्टा के प्रतिफल होते हैं। कबीर की उलटबाँसियाँ कूट-पद ही हैं। उनमें उनका ज्ञान छिपा है। विद्यापति ने भी कूट-पद कहे हैं। विद्यापति के बाद सूर साहित्य आता है। सूर साहित्य में भी हमें कूट-पद मिलते हैं। साहित्य-लहरी में उनके दृष्टकूट पद संग्रहीत हैं। उन्हों ने अपने इन दृष्टकूटों का प्रयोग १. अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए २. रहस्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिए और ३. विरह की गंभीरता को स्पष्ट करने के लिए किया है। एक दृष्टकूट पद लीजिए। यह राधा का चित्र है :—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
कर पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक-पिक-मृग-मद-काग।
खंजन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग॥

८. सूर साहित्य में भ्रमरगीत का स्थान—भ्रमर गीत सूर की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमे विप्रलंभ शृंगार तथा सगुण भक्ति का प्रतिपादन व्यंगमयी, भावपूर्ण, और मार्मिक शैली मे किया गया है। इसमे विस्तार और गम्भीरता दोनों एक साथ हैं। इसमें सूर ने अपनी व्यञ्जनाप्रधान चित्रमयी शैली द्वारा अन्तस्तल का उद्घाटन किया है। इसमें बिहारी, मतिराम और देव की सी तड़प नहीं, छटपटाहट नहीं, ऊहापोह वर्णन नहीं, आह कराह नहीं। गोपियाँ अपने विरह में जलती हैं और उसी मे एक प्रकार का आनन्दानुभव करती हैं। उनका वियोग आशिक-

माशूक का वियोग नहीं, जीवात्मा और परमात्मा का वियोग है। सूर अपने वियोग वर्णन में भावुक नहीं हुए है। उन्होंने संयम से काम लिया है। गोपियाँ अपने में इतनी मतवाली नहीं हैं कि अपनी बुद्धि खो बैठें। उद्धव के आने पर वे उनसे बातें करती हैं, तर्क करती हैं और उनका मज़ाक बनाती हैं।

भ्रमर गीत सूर का प्रेमात्मक ध्वनि काव्य है। 'मधुकर' के श्याम रंग की आड़ लेकर गोपियाँ कभी कृष्ण पर व्यंग करतीं, कभी उनके मित्र उद्धव पर। भागवत् में भ्रमर के सम्बोधन का प्रयोग शैली के रूप में हुआ है। सूर ने इस शैली को अपना लिया है, पर वह इस सम्बोधन पर अधिक ध्यान नहीं देते। व्यंग के अवसर पर व्यंग करके आगे बढ़ते हैं। उद्धव कृष्ण के मित्र थे। उन्हें अपने ज्ञान का गर्व था। इसलिए उनका गर्व-मर्दन की इच्छा से उन्होंने उन्हें गोपियों के पास भेजा। गोपियों से उनका ज्ञान और प्रेम, निराकार और साकार विषय पर वाद-विवाद हुआ। उद्धव गोपियों से हार गये। प्रेम की ज्ञान पर विजय हुई। इस प्रकार सूर ने अपने भ्रमर गीत में ज्ञान, प्रेम और विरह का सजीव चित्रण किया। बस, इसी में सूर की सफलता है। दार्शनिक और प्रेम-तत्वों का इतना सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है।

९. सूर का पशुचारण-काव्य—ग्रीक और रोम के प्रकृति-प्रेमी कवियों का यह प्रिय विषय रहा है। अंग्रेज़ी-साहित्य में भी इसको न्यूनाधिक स्थान मिल चुका है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के काव्य के प्रणेता सूर हैं। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी रचनाओं में इस काव्य को स्थान देकर भारतीय सभ्यता के एक प्रधान अंग का प्रतिनिधित्व किया है। कृत्रिम सभ्यता की सीमा से दूर प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में स्वच्छन्द विचरण करनेवाली आदिम भावना ही इस काव्य की एक मात्र जननी है। सूर के इष्टदेव कृष्ण की आदिम भावना भी प्रकृति के सुहावने विस्तृत क्षेत्र से होकर गुजरी है। अपनी

बाल्यावस्था में उन्होंने अपने पशुओं के साथ कलिन्दजा के कूलों पर, करील के कुंजों में, उपवनों में और वनों में विहार किया है। इसलिए सूर ने इस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जो झाँकियाँ उतारी हैं, सुन्दर, आकर्षक और सजीव हैं। गौओं की उछल-कूद, वंशी की मधुर ध्वनि से उनका पुलक-कंपन, कृष्ण के प्रति उनका सहज प्रेम, संयोग में उनकी मुस्कराहट, और वियोग में उनका रुदन, उनका सुख और दुःख, प्रत्येक का प्रकृत चित्र सूर के पशुचारण काव्य में मिलता है।

सूर की भाषा ब्रज भाषा है। उसका सम्बन्ध साधारण बोल चाल से है। उनकी भाषा पर ब्रज के स्वाभाविक वातावरण का प्रभाव है।

सूर की भाषा

उनके पूर्व हिन्दी-साहित्य में या तो अपभ्रंश-मिश्रित डिंगल पाई जाती थी, या साधुओं की पँचमेली खिचड़ी भाषा। चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम रचना सूर की ही कही जा सकती है। उन्होंने साधारण बोलचाल की भाषा को अपनी भावधारा की खराद पर चढ़ाकर सजाया, सँवारा और साहित्यिक रूप दिया है। वह उसके परिमार्जक हैं। उनकी भाषा पूर्ववर्ती कवियों की भाषा की अपेक्षा अधिक संयत, सुव्यवस्थित और गठी हुई है। कोमल पदों के साथ उनकी भाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, सजीव और भावों के अनुसार बन पड़ी है। माधुर्य और प्रसाद उसका मुख्य गुण है। ब्रज की चलती बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का सन्निवेश करके उन्होंने ब्रज भाषा को उत्तराखण्ड की ही नहीं, समस्त भारत की भाषा बना दिया है। ठेठ ब्रज भाषा के शब्दों को भी उन्हों ने अपनी भाषा में स्थान दिया है। उनकी भाषा में फ़ारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, तथा बुन्देलखण्डी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, पर इसके कारण भाषा के प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्दों को उन्हों ने उनके तत्सम रूप में नहीं, तद्भव रूप में प्रयुक्त किया है। कहीं-कहीं तुकान्त के लिए

अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल रखने की आवश्यकता से प्रेरित होकर उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ भी दिया है। कहीं-कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं, पर अपनी भाषा पर उन्हें इतना अधिक अधिकार है कि उन्हें अपने भाव के अनुकूल शब्द खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने आप आते हैं और परिमाणतः वर्णन में वेग और प्रवाह भर देते हैं। अपनी भाषा को सजीव बनाने के लिए उन्हों ने उसमें मुहाविरे तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग बड़े कौशल से किया है।

सूर तीन रूपों में हमारे सामने आते हैं। वह भक्त हैं, कवि हैं, कथा-गायक हैं। इस दृष्टि से उनकी भाषा भी तीनों रूपों में बदलती हुई दिखाई देती है। कथा-गायक के रूप में वह जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसमें न तो प्रवाह है और न शक्ति। भाव भी शिथिल हैं और भाषा भी। कथा-गायक सूर का ध्येय केवल वर्णनात्मक प्रबन्धात्मकता है। उसमें उनकी रुचि नहीं है। इसलिए भाषा का रूप गौण और हीन है। उनके विनय तथा भक्ति से पदों में भाषा का प्रवाह, हृदय की तल्लीनता और आत्मानुभूति कि तीव्रता मिलती है, पर उनकी काव्यमयी भाषा का दर्शन होता है उनके लीला-सम्बन्धी पदों में। यह भाषा अलंकार और ध्वनि से पुष्ट है। इस अवसर पर उनकी भाषा इतनी प्रवाहपूर्ण और शक्तियुक्त है कि वह पाठक को अपने साथ बहा ले जाती है और उसे आत्मविभोर कर देती है।

सूरदास का काव्य गीतिकाव्य है। उन्होंने अपनी रचना गेय पदों में की है। उनकी यह गीति शैली जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति, और कबीर से धरोहर के रूप में मिली है। सूर के विनय के पदों में सन्तों की पदावली का प्रतिबिम्ब प्रभूत मात्रा में है। वैसे ही शब्द, वैसी ही भावधारा वैसा ही विन्यास इनमें पाया जाता है। इन पदों में बाहर नहीं; आत्मा

सूर की शैली

को भीतर खोजने का विधान है। परन्तु यह सूर की पूर्वकालीन कृतियों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। महाप्रभु वल्लभ से दीक्षित होने के अनन्तर उनकी काव्य-धारा में जो मोड़ आ गया है, उस पर विद्यापति और जयदेव का प्रभाव है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उन्होंने जयदेव और विद्यापति का अन्धानुकरण किया है। उन्होंने अपने प्रत्येक पद पर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित कर दी है। वह अपने प्रत्येक पद में अपने प्रकृत रूप में विद्यमान हैं। उनकी रचनाओं में जो व्यंग, सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एवं भाव गाम्भीर्य है वह जयदेव और विद्यापति में नहीं है।

गीति काव्य की शैली आत्माभिव्यंजन की अत्यन्त उत्कृष्ट शैली है। मुक्तक रचना के लिए भी यह अत्यन्त उपयुक्त है। जिसे भाव की एक-एक शृंखला को सजाना है, भाव-धारा की एक-एक लहर का सजीव चित्र उपस्थित करना है, अपनी अनुभूति का एक-एक अंग आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना है, अपनी भक्ति-भावना के एक-एक शब्द से संगीत का आयोजन करना है उसके लिए गीति काव्य के अतिरिक्त कोई अन्य शैली उपयुक्त नहीं हो सकती। सूर ने अपनी शैली में काव्य और संगीत का सुन्दर समन्वय किया है। उन्होंने अपने काव्य के संगीत की स्वर-लहरी को सरलता, भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है। उनके पदों की टेक पदों के गुंफित भावों को स्पष्ट कर देती है। उन्होंने एक ही विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा है, एक ही दृश्य को भिन्न-भिन्न भावों से परखा है और अपनी शैली को अनेक-रूपता प्रदान की है। उन्होंने एक ही विषय पर इतना अधिक लिखा है कि शास्त्रीय दृष्टि से उनकी रचनाओं में पुनरुक्ति दोष आगया है, पर है वस्तुतः वह उनकी रचनाओं का गुण। वह अपने भावों की तीव्रता से किसी को पुनरुक्ति का आभास तक नहीं होने देते। उनके व्यक्तित्व के अनुरूप जिस प्रकार उनकी भाषा के तीन रूप उनकी रचनाओं में मिलते हैं उसी प्रकार उनकी शैली के भी तीन रूप हो गये है। सूर

कथाकार, सूर कवि और सूर भक्त तीनों की तीन शैलियाँ हैं। प्रथम प्रकार की शैली शिथिल और शेष दोनों प्रकार की शैली प्रौढ़, प्रवाह-पूर्ण और आत्माभिव्यंजक है। सूर अपने प्रथम रूप मे वस्तु-प्रधान हैं दूसरे मे भाव-प्रधान और तीसरे मे अनुभूति-प्रधान। यही उनकी शैली की विशेषता है।

सूर का हिन्दी साहित्य में स्थान

कविता की दृष्टि से, हिन्दी-साहित्य मे, भक्ति-काल का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गौरवयुक्त है। भक्ति-भावना, भाव-गहनता, प्रेम-विह्वलता, तथा तन्मयतापूर्ण काव्य-कमनीयता की जैसी सुन्दर झलक भक्त कवियों के सरस-सरल स्फीत उद्‌गारों मे देखने को मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस अजर, अमर, अव्यक्त सत्ता की महत्ता का आभास पाकर विभिन्न भक्ति-भावनाएँ काव्य-कानन में उमड़ पड़ी थीं, वह उलझती-सुलझती अन्त मे सूर के विशाल सागर में समाकर सौन्दर्य और प्रेम की परिधि मे हिलोरें लेने लगी। सूर पहले भक्त और पहले कवि थे जिन्होने भारतीय भक्ति-पद्धति के रहस्य को पहचाना और काव्य-रीतियो के भीतर कृष्ण के बाल और तरुण रूप को लेकर भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित कर दी। उन्होने काव्य मे जीवन के कोमल और उद्दीपक तत्त्वों की सृष्टि की और उसे वात्सल्य एवं शृंगार रस मे सींचकर सरस तथा हृदयग्राही बना दिया। जयदेव की अनंग-रंग-रंजित जिस भावना का प्रस्फुटन गीत-गोविन्द में हुआ और जिसका स्पष्ट चित्रण मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपनी रचनाओं में किया उसका परिमार्जन करना सूर ही का काम था। उन्होंने वासना के उप-करणों के रहते हुए भी अपनी कविता को अश्लीलता के पंक में फँसने का अवसर नहीं दिया। सूर की निपट अजान राधा की उक्तियाँ, उसका बाल सुलभ चाचल्य और नटखटपन सूर के इष्ट देव बाल-कृष्ण के प्रेम का आधार है। वह कृष्ण को सौ-सौ तरह रिझाती हैं, और कृष्ण उसके प्रत्येक हाव-भाव पर सौ-सौ जान से न्योछावर होते हैं। यशोदा की

प्रतारणा पाकर भोली राधा की बातें सुनिए और तब सोचिए कि उस का प्रेम कितना विशुद्ध है। राधा कहती है :—

मैं कहा करों, सुतहि नहिं वरजत घर ते मोहि बुलावै।
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान॥

राधा की इन पंक्तियों मे आलाप्न तो है ही, उसकी विवशता भी छिपी हुई है। कृष्ण के बुलाने पर वह अपने आप को रोक नहीं सकती। सूर के ऐसे चित्र एक नहीं अनेक हैं। यह शुद्ध वात्सल्य है और शुद्ध शृंगार। सूर की भक्ति के दो ही क्षेत्र हैं—कृष्ण की बाल्यावस्था और कृष्ण की युवावस्था। इन दोनों क्षेत्रों में सूर बेजोड़ हैं। दोनो क्षेत्रो मे सूर ने अपने हृदय का रस निकाल कर बहाया है।

सूर सुधारक नहीं थे। ज्ञानमार्गी भी नहीं थे। उपदेश देने की प्रवृत्ति भी उनमें नहीं थी। किसी मत का प्रतिष्टापन करना भी उनका उद्देश्य नहीं था। वह मत-प्रवर्तक नहीं थे। मतो के खण्डन मण्डन से भी उन्होंने कोई प्रयोजन नहीं रखा। साधु-संन्यासियों से, बड़े-बड़े पण्डितों से उन्होंने कभी टक्कर नहीं ली। खान-पान, ऊँच-नीच की व्यवस्था भी उन्होंने नहीं की। लोक-धर्म की स्थापना के फेर में भी वह नहीं पड़े। उनकी दृष्टि सदैव अपने इष्ट देव ही पर रही और उन्हीं की लीलाओं के सुन्दर चित्र वह उतारते रहे। वह भक्त पहले थे, कवि बाद को। वह जिस समाज मे उत्पन्न हुए और जिस समाज में पले थे उसके प्रति उनके हृदय में अनुराग नहीं था। इसलिए अपने समाज का सुधार भी वह नही कर सके। सूर ने अपने इष्ट देव के जीवन से प्रेम की गंगा बहाई और तुलसी ने अपने इष्ट देव के जीवन पर लोक-धर्म की व्यवस्था की। एक मे अन्तरतल का विचार था, दूसरे मे जीवन का। दोनों भक्त थे, दोनो कवि थे, दोनो एक ही आधार-शिला पर खड़े थे, पर दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न थे, दोनो की कार्य-पद्धति भिन्न थी। सूर की किसी हिन्दी कवि से तुलना नही की जा सकती।

काव्य-कला के क्षेत्र में, रस, अलंकार और भाषा की दृष्टि से सूर

के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना अलम् है कि वह रस के आयोजन में, अलंकारों के प्रयोग में और भाषा को सजाने-सँवारने में भावी कवियों के पथ-प्रदर्शक रहे। उन्होंने अपनी रचनाओं में नये और अछूते विषयों की ओर संकेत किया और कुछ विषयों को इतना सम्पूर्ण बना दिया कि दूसरे कवियों के लिए स्थान ही नहीं रह गया। संगीत-प्रेमी होने कारण उन्होंने अपने काव्य में स्वरों की कोमलता भर दी, भक्त होने कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में भाव भर दिये, कवि होने के कारण उन्होंने अपनी कृतियों में रस और अलकारों का विधान कर दिया और कथाकार होने के कारण उन्होंने कृष्ण की कथा के साथ-साथ अन्य अवतारों की कथा का चित्र अंकित कर दिया। इस कारण सूर अपनी रचनाओं में चार रूपों में मिलते हैं। उनका प्रत्येक रूप अपने में महान है। हिन्दी उन्हें पाकर कृतकृत्य हुई है।

२. मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म सवत्–१५५७ मृत्यु सवत्–१६००

मलिक मुहम्मद जायसी अवध के रहने वाले थे। उनका जन्म रायबरेली ज़िले के जायस नामक ग्राम में हुआ था। जायस में रहने के कारण वह जायसी कहलाने लगे। मलिक उनकी पैतृक उपाधि थी। उनके पिता खेती-बारी करते थे। अपनी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में जायसी ने आखिरी कलाम मे इस प्रकार लिखा है :—

जायसी का जीवन परिचय

नौ सौ बरस छत्तिस जब भए।
तब एहि कथा के आखर कहे॥
भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इस कथन के अनुसार जायसी ९०६ हिजरी मे उत्पन्न हुए थे। उनके बचपन मे ९११ हिजरी के लगभग भारत में एक बड़ा भारी भूचाल आया था और ९०८ हिजरी मे सूर्य-ग्रहण पड़ा था। उन्होने अपनी रचनाओं म इन घटनाओं की ओर संकेत किया है। कहा जाता है कि ७ वर्ष की अवस्था में शीतला के प्रकोप से उनकी बाईं आँख जाती रही थी और एक कान भी बहरा हो गया[था। उनके चेहरे पर शीतला के चिह्न भी अंकित हो गये थे। इससे वह कुरूप हो गये थे। अपनी पुस्तक मे उन्होंने अपनी कुरूपता का वर्णन बड़े गर्व से किया

है और शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है।

जायसी के माता-पिता उनकी बाल्यावस्था में ही मर गये थे। इसलिए अनाथ होकर वह साधु-सन्तों के साथ रहने लगे। उनकी शिक्षा कब और किस प्रकार हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें हिन्दी-काव्य-कला तथा हिन्दू-धर्म के मौलिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान था। साधु-सन्तों तथा फ़कीरों के संसर्ग में आने के कारण उनमें अधिक धार्मिकता आगई थी। हठयोग, वेदान्त, रसायन, ज्योतिष आदि की बहुत-सी बातें उन्होंने हिन्दू-साधु-सन्तों के सत्संग से ही सीखी थीं। क़ुरान में उनका अविचल विश्वास था, परन्तु अन्य धर्मों की ओर वह आदर की दृष्टि से देखते थे। सूफ़ी मत की ओर उनका विशेष झुकाव था। शेख मुहीउद्दीन उनके गुरु थे।

पद्मावत के आरम्भ में जायसी ने अपने चार मित्रों का उल्लेख किया है। इनमें से यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ (सलोने सिंह) ग़ाज़ीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव के आश्रित थे। महाराज जगतदेव शेरशाह के मित्र थे। उनके यहाँ गंधर्व राज नाम का एक बड़ा गुणी कत्थक था। मलिक मुहम्मद जायसी का उससे बहुत स्नेह था। जनश्रुति है कि जायसी ने गंधर्वराज को यह आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारे कुल में संगीत-विद्या सदा बनी रहेगी, पर तुम हमारे स्नेह के स्मारक में मलिक की पदवी अपने कुल में चला दो। तब से गंधर्वराज के वंशज, जो अब तक बलिया के रायपुरा और हल्दी तअल्लुक़े में बसे हुए हैं, मलिक कहलाते हैं और अच्छे गायक हैं।

जायसी अपने समय के बड़े सिद्ध पुरुष थे। उन्हें लोग पहुँचा हुआ पीर मानते थे। उनके बहुत से शिष्य थे। परम्परा से प्रसिद्ध है कि उनका एक शिष्य अमेठी (अवध) में जाकर उनका नागमती का बारह मासा गाकर घर-घर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी-नरेश ने उसे बुलाकर वह बारह मासा सुना और उससे उसके रचयिता

का नाम पूछा। शिष्य ने जायसी का नाम बता दिया। जायसी का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मानपूर्वक उन्हें अपने यहाँ बुलाया। तब से मलिक मुहम्मद जायसी अमेठी में रहने लगे। कहते हैं कि अमेठी के राजा के कोई सन्तान नहीं थी। जायसी के आशीर्वाद से उनका वंश चला। इस घटना से अमेठी दरबार में उनका मान और भी बढ़ गया।

जायसी अपने अन्तिम दिनों में अमेठी के मॅगरा वन में रहते थे। यह वन रामनगर के उत्तर की ओर एक फर्लांग पर है। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अमेठी के राजा से कहा कि मैं योग के बल से अन्य पशुओं के रूप धारण कर लिया करता हूँ। राजा ने उनकी बात का विश्वास करके मॅगरा वन के आस-पास शिकार की मनाही कर दी। दैवयोग से एक दिन एक शिकारी कहीं से शिकार खेलता हुआ उस वन में आ पहुँचा। उसे उस वन में एक बाघ की गरज सुनाई दी। उसने आवाज़ सुनते ही आत्म-रक्षा के लिए गोली चला दी और पास जाकर देखा तो बाघ के स्थान पर जायसी का मृतक शरीर मिला। अमेठी के राजा ने वहीं उनकी समाधि बनवा दी जो अब तक वर्तमान है। इस समाधि पर अब तक दीपक जलाया जाता है। इस जनश्रुति के अनुसार उनकी मृत्यु सं० १६०० के लगभग मानी जाती है।

जायसी की रचनाएँ

जायसी २१ ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं, परन्तु इस समय उनकी केवल तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—१. पदमावत, २. अखरावट और ३. आखिरी कलाम। इन तीनों ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है:—

१. पद्मावत—इस ग्रन्थ का रचनाकाल लेखक के कथनानुसार ९४७ हिज्री है। यह महाकाव्य है। यद्यपि इसकी रचना प्रबन्ध काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति के अनुसार न होकर फ़ारसी की मसनवी-शैली के

अनुसार की गई है, तथापि रसो के वर्णन मे लेखक ने भारतीय काव्य-रचना का ही अनुसरण किया है । कथा का आधार है चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी या पद्मावती जिसके रूप और सौन्दर्य पर मोहित होकर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी। जायसी ने अपनी इस रचना मे यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ली तथापि उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा था। इस रूप मे कहानी का पूर्वार्द्ध कवि की अपनी कल्पना है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर है। पद्मावत की कथा संक्षेप मे यह है कि चित्तौड़ का राणा रतन सेन सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य के विषय मे सुनकर संन्यासी के वेष में सिंहल पहुँचा और वहाँ से उसे ले आया। दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने भी पद्मावती के सौन्दर्य की कथाएँ सुनीं थीं और वह उसपर मोहित हो गया। इसलिए उसने पद्मिनी को अपने वश मे करने के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण किया। घोर युद्ध के पश्चात् चित्तौड़ उसके हाथ आ गया और राणा रतन-सेन पकड़ा गया। महारानी पद्मावती को इस समाचार मे बहुत दुःख हुआ। उन्होंने गोरा और बादल की सहायता से अपने पति को मुक्त कराया। इसके पश्चात् राणा ने पद्मावती के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए राजा देवपाल पर चढ़ाई की। युद्ध मे देवपाल मारा गया, परन्तु राणा भी इतना अधिक घायल हो गया कि चित्तौड़ लौटने पर उसका देहान्त हो गया। यह देखकर उसकी दोनों पत्नियाँ—नागमती और पद्मावती—उसके साथ सती हो गईं। ठीक इसी समय अलाउद्दीन ने पुनः चित्तौड़ पर अधिकार जमा लिया।

कथा के अन्त म जायसी ने इसे कल्पना मात्र कहा है। उन्होंने इस कथा को रूपक देते हुए मानव-शरीर को चित्तौड़ से, उसकी आत्मा को रतन सेन से, बुद्धि को उसकी पत्नी पद्मावती से, नागमती

की संसार से, अलाउद्दीन की माया से और तोता की गुरु से उपमा दी है। इस प्रकार पद्मावत की सारी कथा अत्यन्त रोचक होने पर भी रहस्यमयी हो गई है। कुल कथा ५७ खण्डों में विभाजित की गई है और प्रत्येक खण्ड अपने विषय के अनुसार महत्त्वपूर्ण है।

२. अखरावट—इस ग्रन्थ का रचना-काल लेखक ने नहीं दिया है, परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि यह पद्मावत के बाद की रचना है। इस काव्य में दो प्रकार के पद्य हैं। एक तो वे पद्य हैं जो अक्षरों के क्रम के अनुसार रखे गये हैं, दूसरे वे पद्य हैं जिनका कोई सम्बन्ध अक्षरों के क्रम से नहीं है। इन पद्यों में गुरु-चेला-सम्वाद की प्रधानता है। जीवन सम्बन्धी तत्त्वों से यह काव्य ग्रन्थ भरा पड़ा है। ईश्वर, सृष्टि, जीव तथा ईश्वर-प्रेम आदि विषयों के सम्बन्ध में जायसी की विचार-धारा का इस छोटी-सी पुस्तक से पता लग जाता है।

२. आखिरी कलाम—इस ग्रन्थ का रचना-काल ६३६ हिज्री है। इस ग्रन्थ की शैली पद्मावत से अधिक प्रौढ़ है। इसमें कवि ने पहले तो ईश्वर की स्तुति की है और इसके बाद आत्म-परिचय देते हुए कहा है कि मेरे जन्म के समय भूकम्प आया था और सूर्यग्रहण पड़ा था। कवि ने इस प्रकार अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डालते हुए मुहम्मद साहब और अपने गुरु की स्तुति की है और फिर प्रलय का दृश्य चित्रित किया है।

जायसी का समय

जायसी शेरशाह सूरी के राजत्त्व-काल में हुए थे। भारतीय इतिहास में यह वह समय था जब द्वितीय मुग़ल सम्राट हुमायूँ के हाथ से शासन-सूत्र निकलकर शेरशाह के हाथों में चला आया था। वह हुमायूँ की अपेक्षा अधिक कुशल शासक था। वह विद्वानों का आदर करता था और उन्हें प्रोत्साहन देता था। उसमें धार्मिक कट्टरता नहीं थी। हिंदू और मुसलमान दोनों के साथ उसका समान व्यवहार था। ऐसे सम्राट के राजत्त्व-काल में बहुत दिनों से एक साथ रहनेवाली हिन्दू और मुसलमान जनता

को एक दूसरे के आचार-व्यवहार तथा मनोवृत्तियों से परिचय प्राप्त करने का अधिक सुअवसर मिला। इसका प्रमाण उस समय का साहित्य है जिस पर समान रूप से दोनों सम्प्रदाय वालों का अधिकार था। हिन्दू फ़ारसी पढ़ते थे और उस भाषा में अपनी रचनाएँ करते थे। मुसलमान हिन्दी पढ़ते थे और उस भाषा में अपनी रचनाएँ करते थे। इस प्रकार जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमानों ने राम को और हिन्दुओं ने रहीम को एक रूप मे अपना लिया था। हिन्दू और मुसलमानों की इस प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि उस समय के सूफी मुसलमान कवियों ने, हिन्दी भाषा मे अपनी रचनाओं को लिखना प्रारम्भ कर दिया। इन सूफ़ी-कवियों की शैली कबीर की शैली से भिन्न थी। ये शास्त्र के साथ सामंजस्य रखकर उपासना के पुनीत क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और प्रेम की पीर से प्रभावित थे। आरंभ में ऐसे सूफी-साधक पंजाब तथा सिंध में आकर बस गये थे और धीरे-धीरे इनकी परम्परा सारे भारत में फैल गई थी। उन दिनों भारतीय चिन्ता की परिणति भक्ति—आन्दोलन के रूप मे हो चुकी थी। समूचा देश एक सिरे से दूसरे सिरे तक भक्ति की रस-माधुरी मे निमग्न हो चुका था। सूफियों की साधना इस वातावरण के अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमान साधकों की भांति कट्टर और हिन्दू-विरोधी नहीं थे। इसलिए भारतीय जनता ने इनके स्वर में अपना स्वर मिला दिया था। शेरशाह के पिता हसनशाह के आश्रित कुतबन मिया इसी वर्ग के कवि थे। उन्होंने 'मृगावती' नाम का एक काव्य स० १५६० के लगभग लिखा था। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों का समान भाव से आदर और विश्वास प्राप्त किया था। इस से यह स्पष्ट है कि उस समय की जनता पर शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों का प्रभाव कम हो रहा था। इस युग के साहित्य ने ऐसी बहुत-सी बातों को त्याग दिया था जिनसे हिन्दू और मुसलमानों की विचारधारा के

समन्वयीकरण में व्यवधान की सम्भावना थी। तत्कालीन साहित्यकारों की यही अभिरुचि जन-आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने में विशेष रूप से सफल हुई।

जायसी के समय की दूसरी उल्लेखनीय बात है शाक्त मतावलम्बियों और वाममार्गियों की विरोध-भावना। ये लोग हिंसा के पक्षपाती थे और मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत और यक्षिणी आदि सिद्ध करनेवालों के समर्थक थे। इन्होंने भक्तिवाद का घोर विरोध किया, परन्तु उस समय का समाज इनके साथ नहीं था। शाक्त मत-विहित मन्त्र-तंत्र तथा प्रयोग आदि वेद-विरुद्ध अनाचार के रूप में समझे जाने लगे थे और हिन्दू जनता उनसे विमुख होती जा रही थी। जनता पर इस प्रभाव का कारण उस समय के सन्तों और साधकों का भक्तिवाद ही था। भक्तिवाद के आलोक में विकृत शाक्तमत की पोल खुल गई। इससे चिढ़कर वाममार्गियों ने उस का घोर विरोध किया, परन्तु जनता के असहयोग के कारण उनकी विरोध भावना को बल नहीं मिला। पद्मावत में राघव चेतन ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया है।

जायसी पर प्रभाव

जायसी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में यह बताया जा चुका है कि माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हे साधु-सन्तों और फकीरों के सम्पर्क मे आना पड़ा था। इसलिए उनके स्वभाव में बाल्यावस्था से ही धार्मिकता आगई थी उन्होंने उनके संसर्ग से तत्कालीन धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। वह मुसलमान थे। क़ुरान में उनका अटूट विश्वास था परन्तु उनमें मुल्लाओं की-सी कट्टरता नहीं थी। वह सूफी धर्म से अधिक प्रभावित थे। उनके समय मे दो प्रकार के सूफी थे। एक तो वे जो बेशरा अर्थात् शास्त्र-बहिभूंत कहलाते थे और दूसरे वे जो बा-शरा अर्थात् शास्त्रसम्मत कहलाते थे। पहले प्रकार के सूफियों के साथ शास्त्राचार-परायण मुसलमानो का

अच्छा व्यवहार नहीं था, परन्तु दूसरे प्रकार के सूफियों का उनके बीच मान था। जायसी इसी कोटि की सूफी-विचार धारा से प्रभावित थे। कट्टरपंथी मुसलमानों पर एकेश्वरवाद का प्रभाव था, पर बा-शरा सूफियों पर एकेश्वरवाद के साथ-साथ अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। एकेश्वरवाद सब से बड़े देवता ईश्वर को मानता है, परन्तु अद्वैतवाद आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं समझता। उसका कहना है—'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। सूफ़ियों का 'अनलहक़' इस विचार धारा से बिलकुल मिलता-जुलता है। जायसी अद्वैतवाद से भी प्रभावित थे। उनकी रचनाओं में बहुत-सी ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जिनसे उनके अद्वैतवादी होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। सूफ़ी वास्तव में फ़क़ीर होते थे। वे खुदा की राह पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। उनके स्वभाव में दीनता और नम्रता थी। परमात्मा को वे अपना माशूक़ समझते थे और उसी के प्रेम में दिन-रात डूबे रहते थे। उनका यह प्रेम ज्यों-ज्यों ईश्वर, अपने माशूक की ओर उन्मुख होता जाता था त्यों-त्यों वे इस्लाम के बाह्य विधानों की ओर से उदासीन होते जाते थे। इस प्रकार उनकी साधना में प्रेम और उसकी पीर को प्रमुख स्थान मिल गया था। जायसी का पद्मावत इस प्रकार के प्रेम की पीर से भरा पड़ा है। उसमें जो आकर्षण है, जो तन्मयता है, जो माधुर्य है वह केवल इसी प्रेमानुभूति का प्रतिफल है और वह इसीलिए हिन्दू-हृदय को आन्दोलित करता है।

जायसी पर वेदान्त का भी प्रभाव है। अपनी रचनाओं में उन्होंने ब्रह्म और जगत् की समस्याओं पर भी विचार किया है। वह जगत् को ब्रह्म से पृथक नहीं करते। जगत् की पृथक सत्ता को वह छाया-मात्र मानते हैं। वह कहते हैं :—

जब चीन्हा तब और न कोई। तन, मन, जिउ, जीवन सब सोई।

चित्-अचित् की इस अनन्यता के प्रतिपादन के लिए वेदान्त

विवर्त्तवाद का आश्रय लेता है जिसके अनुसार यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त (कल्पित कार्य) है वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का समर्थन भी जायसी ने किया है।

जायसी के सृष्टि-वर्णन में हिन्दू और मुसलमान दोनों की भावनाओं का मेल है। उसमें एक ओर तो पुराणों के सप्त द्वीप और नवखंड हैं और दूसरी ओर 'नूर' की उत्पत्ति। उनके सृष्टि-वर्णन में क्रम का अभाव अवश्य है। 'नूर' कहकर उन्होंने किसी क्रम का उल्लेख नहीं किया है।

अखरावट के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि जायसी उपनिषद् विशेषतः ईशोपनिषद् के सिद्धान्तों से भी अधिक प्रभावित थे। कहीं कहीं उन्होंने इन आर्षग्रन्थों के विचार ज्यों के त्यों अपनी रचनाओं में अपना लिये हैं। उन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान है। योग-मार्ग का भी उनपर स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार के कई सिद्धान्तों की झलक से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने जो कुछ कहा वह उनके तर्क या ब्रह्म-जिज्ञासा का फल नहीं है, उनकी सार-ग्रहणी और उदार भावुकता का फल है। उन्होंने, वास्तव में, अपने माशूक को पाने के लिए, उस का वस्ल प्राप्त करने के लिए, सृष्टि का कोना-कोना झाँकने की चेष्टा की है।

यह तो हुआ जायसी की रचनाओं पर अन्यान्य धर्मों का प्रभाव। अब यह देखना है कि अपनी साहित्यिक साधना मे वह कहाँ तक प्रभावित थे। यह तो बताया ही जा चुका है कि जायसी में प्रेम की पीर हिन्दुओं के भक्तिवाद के अत्यन्त निकट थी। जायसी के पूर्व हिन्दी मे कबीर और नानक हो चुके थे और कुतबन मियाँ ने मृगावती लिख कर प्रेम काव्य के लिए मार्ग खोल दिया था। जायसी कबीर और नानक से प्रभावित अवश्य थे, पर उन्होंने अपनी रचनाओ मे उनका अनुकरण नहीं किया। उनकी साधना प्रेम पर आश्रित थी। इसलिए उन्होंने तत्कालीन जन-समाज मे प्रचलित पद्मावती की ऐतिहासिक

कहानी का आश्रय लेकर प्रेम-काव्य की रचना की। उनकी इस रचना ने हिन्दी-साहित्य-साधना के क्षेत्र में उन्हें अमर बना दिया।

जायसी की धार्मिकभावना

जायसी उच्च कोटि के सूफ़ी साधक थे। उनका हृदय कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ था। क्या लोक-पक्ष में और क्या भगवत्पक्ष में दोनों ओर उनकी समदृष्टि थी। मुसलमान फ़क़ीरों की एक प्रसिद्ध गद्दी की शिष्य परम्परा में होते हुए भी तत्त्व दृष्टि-सम्पन्न होने के कारण उनके भाव अत्यन्त उदार थे। विधि पर उनकी पूरी आस्था थी। वेद, पुराण और कुरान आदि उनकी दृष्टि में लोक-कल्याण मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन थे। वेद-विहित मार्ग पर न चलनेवालों की उन्होंने भर्त्सना की है। वह कहते हैं:—

वेद बचन मुख साँच जो कहा।
सो जुग जुग अहथिर होय रहा॥

जायसी मुसलमान थे, परन्तु उनमें हिंसा की भावना नहीं थी। धर्म की उदार वृत्तियों से उनका हृदय इतना कोमल हो गया था कि उसमें हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था। इसीलिए उन्होंने अपनी साधु-प्रवृत्ति के अनुसार पशु हिंसा के विरुद्ध अपना विचार प्रकट किया है। साधारण धर्म और विशेष धर्म दोनों के तत्त्व को वह समझते थे। उनकी साधना में समस्त धर्मों को समान स्थान प्राप्त था। इसलिए अपनी साधना को सफल बनाने के लिए उन्होंने सब धर्मों से कुछ-न-कुछ अवश्य लिया और उसपर अपनी साधना की, अपने प्रेम की छाप अंकित कर दी। विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा, मुल्लाओं और पंडितों का उपहास आदि से वह कोसों दूर थे। गुरु की ओर उनकी अपार श्रद्धा थी। साधना के क्षेत्र में गुरु के महत्त्व को वह स्वीकार करते थे।

उपासना के क्षेत्र में जायसी भगवान के निर्गुण रूप के उपासक थे, पर सूफ़ी सिद्धान्तों की ओर झुकाव होने के कारण उनकी उपासना

में साकारोपासना की सी सहृदयता भी पाई जाती है। जायसी परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त गुणों का सागर मानते थे। वह एकेश्वरवादी थे, पर उनपर अद्वैतवाद, वेदान्त, योग आदि का भी प्रभाव था। इसका कारण था भक्तिवाद। हिन्दुओं का भक्तिवाद सूफ़ी-साधना के सर्वथा अनुकूल था। सूफ़ी मानते थे कि परमात्मा की सत्ता का सार है प्रेम। सृष्टि के पूर्व परमात्मा का प्रेम केवल अपने ऊपर था, पर अपने उस अद्वैत प्रेम को बाह्य विषय के रूप में देखने की इच्छा से उसने एक प्रतिबिम्ब उत्पन्न किया जिसे 'आदम' कहते हैं। आदम प्रेम का अवतार है। भक्तिवाद भी प्रेम को लेकर चला है। सूफ़ी होने के कारण जायसी भक्तिवाद के बहुत निकट आगये हैं। सूफ़ी-मत में उनका अटल विश्वास है। अपनी रचनाओं मे उन्होंने सूफ़ी-साधकों की चारों अवस्थाओं का वर्णन किया है और उनमे अपनी आस्था भी प्रकट की है। उनकी चौथी अवस्था सिद्धावस्था है जिसमे आत्मा परमात्मा मे लीन हो जाती है। भक्तिवाद का भी यही चरम लक्ष्य है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भक्त सगुणोपासना में विश्वास करते हैं वहाँ सूफ़ी ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप मे करते हैं।

सक्षेप मे जायसी के आध्यात्मिक विचारों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह एकेश्वरवादी हैं। अद्वैतवाद का उनपर प्रभाव अवश्य है, परन्तु एकेश्वरवाद और अद्वैवताद में जो अन्तर है वह उनकी धार्मिक भावना में स्पष्ट नहीं है। उनका ईश्वर स्टष्टि का कर्त्ता, अलख, अनादि, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, सर्वव्यापी, अनन्त, और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है। जीव को वह ईश्वर का अंश मानते हैं। उनके विश्वास के अनुसार जीव ब्रह्ममय है और ससार नश्वर है। यह संसार उसी की रचना है। ईश्वर की प्राप्ति प्रेम से हो सकती है। उन्होने सृष्टि का लोक-विश्वासानुसार वर्णन किया है। उसमे उन्होने ईश्वर, जीव, और संसार तीन अलग

अलग तत्त्व माने हैं। हठयोग-सम्बन्धी बातों में भी उनका विश्वास है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनहद और शून्य-लोक की भी चर्चा की है। इस्लामी विश्वास के अनुसार उन्होंने मुहम्मद साहब को ईश्वर का पैगम्बर माना है और सृष्टि-रचना का वर्णन किया है। इस्लाम में उनकी पूरी आस्था है। उसका महत्त्व भी उन्होंने प्रतिष्ठापित किया है। कुरान में भी उनका पूरा विश्वास है। उनका कहना है कि कुरान सुनने मात्र से मनुष्य माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है। रोज़-नमाज़ के महत्त्व को भी उन्होंने अपनी उपासना में स्थान दिया है। इस प्रकार उनकी धार्मिक भावना में कई मतों का सुन्दर समन्वय है।

जायसी की विचार-परम्परा

जायसी की विचार-परम्परा का आभास उनकी रचना पद्मावत से मिलता है। इसमें उन्होंने बताया है कि सारी कथा अन्योक्ति के रूप में है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने कहा है:—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोई न एहि चितबंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इस संकेत के अनुसार चित्तौड़ = शरीर, रत्नसेन = मन, सिंहल = हृदय, हीरामन तोता=गुरु, नागमती=दुनिया-धंधा, राघव चेतन= शैतान और अलाउद्दीन=माया है। इस प्रकार सारी कथा पाठक के सामने अन्योक्ति के रूप में आती है। अन्योक्ति कहने से उनका यह अभिप्राय है कि सारी कथा के दोहरे अर्थ होते हैं। उससे एक ओर तो लौकिक पक्ष का अर्थ निकलता है और दूसरी ओर पारमार्थिक अर्थ। अब देखना यह है कि जायसी अपने इस कथन का किस सीमा तक

निर्वाह कर सके हैं। और वह उनकी धार्मिक भावना के साथ कहाँ तक मेल खाता है।

पद्मावत में उपर्युक्त संकेतों के अनुसार चित्तौड़ रूपी शरीर में बैठा हुआ रत्नसेन रूपी मन, जो संकल्प-विकल्प का केन्द्र है, पद्मिनी रूपी बुद्धि को प्राप्त करने के लिए सिंहल रूपी प्रेम के केन्द्र हृदय की ओर आकर्षित होता है और उसे प्राप्त करता है। इस कार्य में हीरामन तोता रूपी गुरु उसका पथ प्रदर्शन करता है। उसके उपदेश से रत्नसेन रूपी मन नागमती रूपी सांसारिक कार्य-कलाप के बन्धन से मुक्त होता है और अपने उद्देश्य में सफल होता है। राघव चेतन रूपी शैतान उसे पथभ्रष्ट करने की चेष्टा करता है, परन्तु इसकी वह उपेक्षा करता है। बुद्धि पर मन की विजय होने पर अलाउद्दीन रूपी माया उनके मेल में बाधक होती है। माया बुद्धि की ओर लपकती है, परन्तु उसे उसका सहयोग प्राप्त नहीं होता। मन पर भी देवपाल का आक्रमण होता है और इस संघर्ष में देवपाल के पश्चात् रत्न रूपी मन का अन्त होता है। मन का अन्त होने पर नागमती और पद्मावती, जो क्रमशः सासारिक कार्य-कलाप और बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती हैं, सती हो जाती हैं और अन्त में अलाउद्दीन रूपी माया को यह कहना पड़ता है 'पिरथिमी झूठी', इस प्रकार समस्त कथा को अन्योक्ति का रूप देने के पश्चात् कवि 'चितउर भा इसलाम' कहकर अपनी कथा का अन्त कर देता है।

जायसी की विचार-परम्परा उपर्युक्त अन्योक्ति में भ्रममूलक है। इसमें सन्देह नहीं कि सारी कथा परमात्मा को पाने के लिए जीवात्मा की व्याकुल चेष्टा है, परन्तु यह व्याकुल चेष्टा उनकी अन्योक्ति में, उनके रूपकों में शुद्ध नहीं है। रत्नसेन रूपी मन नागमती रूपी सासारिक कार्यकलाप की उपेक्षा करके पद्मावती रूपी बुद्धि को प्राप्त करने के लिए जो दौड़-धूप करता है वह अपने विशुद्ध रूप में नहीं है। उसमें न तो कोरा इस्लामीपन है और न कोरा हिन्दूपन। मन की बुद्धि

निर्वाह कर सके हैं। और वह उनकी धार्मिक भावना के साथ कहाँ तक मेल खाता है।

पद्मावत में उपर्युक्त संकेतों के अनुसार चित्तौड़ रूपी शरीर में बैठा हुआ रत्नसेन रूपी मन, जो संकल्प-विकल्प का केन्द्र है, पद्मिनी रूपी बुद्धि को प्राप्त करने के लिए सिंहल रूपी प्रेम के केन्द्र हृदय की ओर आकर्षित होता है और उसे प्राप्त करता है। इस कार्य में हीरामन तोता रूपी गुरु उसका पथ प्रदर्शन करता है। उसके उपदेश से रत्नसेन रूपी मन नागमती रूपी सांसारिक कार्य-कलाप के बन्धन से मुक्त होता है और अपने उद्देश्य में सफल होता है। राघव चेतन रूपी शैतान उसे पथभ्रष्ट करने की चेष्टा करता है, परन्तु इसकी वह उपेक्षा करता है। बुद्धि पर मन की विजय होने पर अलाउद्दीन रूपी माया उनके मेल में बाधक होती है। माया बुद्धि की ओर लपकती है, परन्तु उसे उसका सहयोग प्राप्त नहीं होता। मन पर भी देवपाल का आक्रमण होता है और इस संघर्ष में देवपाल के पश्चात् रत्न रूपी मन का अन्त होता है। मन का अन्त होने पर नागमती और पद्मावती, जो क्रमशः सांसारिक कार्य-कलाप और बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती हैं, सती हो जाती हैं और अन्त में अलाउद्दीन रूपी माया को यह कहना पड़ता है, 'पिरथिमी झूठी', इस प्रकार समस्त कथा को अन्योक्ति का रूप देने के पश्चात् कवि 'भितउर भा इसलाम' कहकर अपनी कथा का अन्त कर देता है।

जायसी की विचार-परम्परा उपर्युक्त अन्योक्ति में भ्रममूलक है। इसमें सन्देह नहीं कि सारी कथा परमात्मा को पाने के लिए जीवात्मा की व्याकुल चेष्टा है, परन्तु यह व्याकुल चेष्टा उनकी अन्योक्ति में, उनके रूपकों में शुद्ध नहीं है। रत्नसेन रूपी मन नागमती रूपी सांसारिक कार्यकलाप की उपेक्षा करके पद्मावती रूपी बुद्धि को प्राप्त करने के लिए जो दौड़-धूप करता है वह अपने विशुद्ध रूप में नहीं है। उसमें न तो कोरा इस्लामीपन है और न कोरा हिन्दूपन। मन की बुद्धि

को—उस परम तत्व को, जिसका केवल प्रकाश इस चराचर सृष्टि के रूप में आभासित होता है, प्राप्त करने के लिए जो व्याकुल चेष्टा है उस में अद्वैतवाद के अनुसार माया को बाधक होना चाहिए, शैतान को नहीं। माया के बाधक होने के पश्चात् शैतान की भी कल्पना करना सर्वथा भ्रमात्मक है। इसके अतिरिक्त जब मन और बुद्धि का एक बार मेल हो गया तब फिर अलाउद्दीन रूपी मन की कल्पना का कोई विशेष महत्व नहीं होता। जायसी ने समस्त अन्योक्ति में माया को नागमती, राघवचेतन और अलाउद्दीन के रूपों में चित्रित किया है। नागमती को माया का प्रतीक मानकर जो काम जायसी ने निकाला जा सकता था उसके लिए राघवचेतन तथा अलाउद्दीन की कल्पना करना केवल यही अर्थ रखता है कि उन्होंने सभी धर्मों के अनुसार माया का प्रतिनिधित्व देने की असफल चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आगे चलकर रत्नसेन और देवपाल में जो युद्ध होता है और इस युद्ध में दोनों की जो मृत्यु होती है वह भी भ्रमपूर्ण है। देवपाल किसका प्रतीक है यह समझ में नहीं आता। देवपाल मन और बुद्धि दोनों का नाशक है। रत्नसेन रूपी मन की मृत्यु से पद्मिनी रूपी बुद्धि का भी अन्त होता है। इस सम्बन्ध में मन का नाश हो जाना तो युक्ति-संगत है, परन्तु मन के पश्चात् बुद्धि अथवा ज्ञान का नाश क्या अर्थ रखता है, स्पष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जायसी की यह अन्योक्ति अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। कुछ लोग इसी कारण से जायसी की इस प्रेम-गाथा को अन्योक्ति न मानकर समासोक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि पद्मावत की कथा का दोहरा अर्थ नहीं हो सकता। उसके कतिपय अंश ही अन्योक्ति की परिधि में आते हैं, समस्त नहीं। इसलिए सारी कथा समासोक्ति ही है।

जायसी की रचना में रहस्यवाद है। कबीर के सम्बन्ध में यह बताया जा चुका है कि काव्य में रहस्यवाद का आविर्भाव उस समय होता है जब कवि के हृदय में असीम और ससीम का द्वन्द्व छिड़ जाता

जायसी का रहस्यवाद

है और उसकी आत्मा परमात्मा में लीन होकर अपना अस्तित्व खो बैठती है। जायसी की काव्य-साधना इसी शिखर पर पहुँच कर रहस्यमयी हो गई है। उनके पद्मावत में प्रेम-खंड रहस्यवाद का सर्वश्रेष्ठ अंश है। वह अपने में महत् है।

यह पहले बताया जा चुका है कि जायसी की विशेष प्रवृत्ति सूफी मत की ओर है। सूफियों के मतानुसार उनकी ईश्वर-कल्पना अत्यन्त सौन्दर्यमयी और माधुर्यपूर्ण है। वह यह मानते हैं कि यह चराचर जगत् उसी का प्रतिबिम्ब है। इसलिए उनकी साधना में संसार के प्रति उपेक्षा, उदासीनता की भावना है। कवि अपने काव्य में इसी भावना को लेकर रहस्यवादी बन जाता है। परमात्मा के प्रेम में, उसके पूर्ण प्रकाश में जब उसकी आत्मा अपना अस्तित्व खो देती है, जब असीम का ससीम के लिए और ससीम का असीम के लिए द्वन्द्व समाप्त हो जाता है तब उस समय उसके मुख से जो कुछ निकलता है वह इतना रहस्यपूर्ण होता है कि साधारण पाठक उसे समझने में असमर्थ हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कवि रूपकों का, प्रतीकों का सहारा लेता है। इन प्रतीकों की स्पष्टता अथवा अस्पष्टता पर ही उसके रहस्यवादी काव्य की सफलता निर्भर रहती है। जायसी भी उस उच्च भाव-भूमि पर पहुँच कर रहस्यवादी हो गये हैं। भौतिक प्रेम-कहानी का आश्रय लेकर उन्होंने ईश्वर-सम्बन्धी उल्लास, प्रेम तथा विरह की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। उन्होंने अपनी रहस्यवादी सत्ता का आभास देने के लिए बड़े मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित किये हैं। इन दृश्य-संकेतों में उन्हें उस परोक्षज्योति का जो साक्षात्कार होता है, वह इन पंक्तियों में देखिए :—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन, पदारथ, मानिक, मोती ॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगासी ॥

उस अनन्त सत्ता का साहचर्य्य पाने के लिए प्रकृति कितनी

व्याकुल है, यह भी देखिए :—

चाँद, सुरज और नखत तराई। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जर बुझी बिआाना। धुआँ उठा, उठि बीज बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छुआ। बहुरा रोई आइ भुइँ चुआ॥

यह तो हाल है प्रकृति का। मानव केवल प्रेम-पंथ द्वारा उस तक पहुँच सकता है, पर उस पर चलना सब के बस की बात नहीं है :—

ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती और संन्यासी॥

इस प्रेम-पंथ का साधक बनने के लिए हीरामन तोता रत्नसेन को समझाता हुआ कहता है :—

तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरे घरहि माँझ दस पंथा॥
काम, क्रोध, तिसना, मद, माया। पाँचौ चोर न छाँड़हि काया॥
नवौ सेंध तिन्ह कै दिठिआरा। घर मूसहिं निसि, की उजियारा॥

इसके पश्चात् राजा की रहस्यवादी दशा देखने योग्य है। वह जोगी हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जायसी का रहस्यवाद अपनी सीमा तक पहुँचा हुआ है। उसमें प्रेम की ही मधुर व्यंजना है जिसमें वियोग-पक्ष प्रधान है। उसके वियोग में प्रकृति की दशा ठीक वैसी है जैसी राजा रत्नसेन की। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। सभी उसके वियोग में तड़प रहे हैं और उसका सामीप्य चाहते हैं। जायसी के रहस्यवाद में यही भावना अन्तर्निहित है।

जायसी की प्रेम-साधना

जायसी का पद्मावत एक ऐतिहासिक प्रेम-कहानी पर आश्रित है। इस कहानी का नायक है रत्नसेन और नायिका है पद्मावती। पद्मावती के रूप और सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर सहसा रत्नसेन के हृदय में उसे प्राप्त करने के लिए प्रेम जाग्रत होता है और वह जोगी होकर उसके देश सिंहल में पहुँचता है। पद्मावती में इसके पश्चात् प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रकार रत्नसेन का प्रेम फारसी पद्धति का

अनुसरण करता है। भारतीय पद्धति में नायिका का प्रेम तीव्र होता है। जायसी ने आगे चलकर दोनों के प्रेम में तीव्रना दिखा दी है। इस से दोनों शैलियों का सहज मेल हो गया है। एक बात और है। फ़ारसी साहित्य में आदर्शात्मक प्रेम का चित्रण है और भारतीय साहित्य में लोकसम्बद्ध और व्यावहारिक। जायसी ने पद्मावन में प्रथम को ही महत्त्व दिया है। रत्नसेन का प्रेम आदर्श प्रेम है परन्तु इसके साथ उसमें लोक पक्ष का भी समन्वय हुआ है। इससे उनकी प्रेम-साधना पारिवारिक और सामाजिक जीवन की अमूल्य सम्पत्ति बन गई है।

जायसी की प्रेम-गाथा में दाम्पत्य प्रेम का ही चित्रण अधिक है। इस दृष्टि से उनका काव्य शृंगार-प्रधान काव्य है। जीवन की अन्य परिस्थितियों की ओर उन्होंने अपने इस काव्य में संकेत नहीं किया है। इसका कारण है उनके काव्य का लक्ष्य। पद्मावत में जायसी के कथानक का उद्देश्य है प्रेम-द्वारा जीवात्मा का परमात्मा को प्राप्त करने के लिए सतत चेष्टा। इसे यों भी कहा जा सकता है कि साहित्यिक दृष्टि से कबीर की साधना में जो कमी थी उसे जायसी ने पूरा किया अतएव जायसी का काव्य दाम्पत्य प्रेम का काव्य होते हुए भी आध्यात्मिक है। उसमें मानसिक पक्ष प्रधान है, लोक अथवा शारीरिक पक्ष गौण है। वस्तुतः जायसी की प्रेम-दृष्टि पर सूफी मत का प्रभाव है। जायसी की प्रेम-साधना सूफियों की साधना है। इस प्रकार की प्रेम-साधना में तर्क नहीं चलता। वह आलोचना की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती। वास्तव में जो सच्चा प्रेमी होता है, वह प्रेम के नियम और उपनियम की अपेक्षा नहीं रखता। वह यह नहीं देखता कि उसके लिए क्या उचित और क्या अनुचित है। रत्नसेन की भी यही दशा है। आलोचनात्मक दृष्टि से उसकी प्रेम-साधना पर विचार करने से बहुत-सी भूलें मिल सकती हैं। वह रूप-लोभी कहा जा सकता है, भोगी समझा जा सकता है, और इस दिशा में उसके प्रयत्न हास्यास्पद भी हो सकते हैं, परन्तु उसके हृदय में अनन्य प्रेम की जो वंशी

बज रही है उसे तो केवल उसी के कान सुन सकते हैं और उसी का हृदय यह बता सकता है कि वह पद्मावती के रूप का लोभी था या उसका अनन्य प्रेमी ! जायसी भी तो इसी प्रकार के प्रेमी थे। अव्यक्त के प्रति उनके हृदय में जो प्रेम का तूफान आया था, वह गुणश्रवण के पश्चात् ही तो आया था। इसलिए जायसी ने रत्नसेन की प्रेम साधना का जो लौकिक चित्र उतारा उसमें उनसे भूल होना स्वाभाविक ही था। यदि उनमें इस प्रकार की भूल न हुई होती तो उनकी दशा ठीक उसी प्रेमी की सी होती जो तर्क का दीपक लेकर अपने पंथ पर बड़ी सावधानी से यात्रा करता है। अब रहा देवपाल और अलाउद्दीन की प्रेम-भावना पर विचार करना। इन दोनों का प्रेम-भावना में विलासिता की प्रधानता है। रत्नसेन जिस पद्मिनी का प्रेम पाने के लिए त्याग करता है, कष्ट सहन करता है उसके लिए अलाउद्दीन चित्तौड़ पर चढ़ाई करता है और देवपाल दूती भेजकर उसको धर्मभ्रष्ट करने की कुफल चेष्टा करता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि ये दोनों प्रेमी एक विवाहिता के प्रति अन्याय करते हैं।

पद्मावती के प्रेम की रूप—रेखा दो रूपों में सामने आती है। एक तो विवाह के पूर्व और फिर विवाह के पश्चात्। विवाह के पूर्व ही पद्मावती में रत्नसेन के प्रति जो प्रेम-भावना उत्पन्न होती है वह यद्यपि लौकिक और साहित्यिक दृष्टि से असंगत और आलोचनापूर्ण है, तथापि असीम के ससीम के प्रति द्वन्द्व को व्यंजित करने में उससे कोई बाधा नहीं पड़ती है। विवाह के पश्चात् रत्नसेन के बन्दी होने तथा मरने पर पद्मावती के नारी-हृदय में जैसी आशा और साहस का प्रादुर्भाव हुआ है उसमें लौकिक पक्ष का ही प्रधानता है। रत्नसेन के लिए पद्मावती प्रेमिका के रूप में ही चित्रित की गई है। इसके विरुद्ध नागमती पतिपरायणा हिन्दू स्त्री है। उसका सतीत्व हिन्दू-नारी का सतीत्व है। जायसी ने उसको तीन रूपों में चित्रित किया है—१. रूप-गर्विता, २. प्रेम-गर्विता और ३. प्रवस्यत्पतिका। वह अपने तीनों रूपों में

महान है। उसका वियोग हिन्दी साहित्य में वियोग-शृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट निरूपण है। वह पति-वियोग में अपना रानीपन, अपना सब कुछ भूल गई है। इसलिए उसकी वेदना सब के हृदय को छूती है, सब को प्रभावित करती है।

वियोग से प्रेम में जो उफान आता है, जो तीव्रता आती है उसका चित्रण जायसी ने नागमती के वियोग-वर्णन में बड़ी सफलता से किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं उनके चित्रण अत्युक्ति-पूर्ण हो गये हैं, पर वे हास्यास्पद नहीं हो सके हैं। उनमें भाव-गाम्भीर्य बना हुआ है। जायसी ने घायल की भाँति घायल नागमती की विरह-वेदना को पहचानने की चेष्टा की है, इसलिए वह उसे चित्रित करने में समर्थ हुए हैं। देखिए:—

पिय सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि विरहै जरिमुई, तेहि क धुआँ हम लाग॥

× × ×

हाड़ भए सब किंगरी, नसें भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते ध्वनि उठै, कहौं विथा केहि भाँति॥

नागमती के विरह-वर्णन में जायसी की भावुकता अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई है। उन्होने कही-कही इस सम्बन्ध में जो वीभत्स चित्र उपस्थित किये हैं वे केवल विदेशी प्रभाव के कारण अन्यथा समस्त स्थलों पर उन्होंने भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया है।

जायसी ने प्रेम के संयोग पक्ष का भी चित्रण बड़ी सफलता-पूर्वक किया है। विवाह के उपरान्त पद्मावती और रत्नसेन के समागम का चित्रण अत्यन्त मनोहर है। इस अवसर पर जायसी मे पांडित्य प्रदर्शन की लालसा का अभास भी किंचित् मिलता है और उससे बाधा भी उपस्थित हुई है। उनका सोलह शृंगार का वर्णन कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। इस वर्णन से पाठको का ध्यान पद्मावती और रत्नसेन की

ओर से हटकर आभूषणों पर टिक जाता है और अन्त में उनकी ओर से उन्हें उदासीनता होने लगती है। उनका षट्ऋतु वर्णन बड़ा सुन्दर है।

जायसी मुख्यतः प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम के स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया है। प्रेम की महानता के सम्बन्ध में वह कहते हैं:—

ध्रुव ते ऊँच प्रेम-ध्रुव ऊँचा।

× × ×

प्रेम अदिस्ट गगन तें ऊँचा॥

जायसी का प्रेम में दृढ़ विश्वास था। उनका कहना था कि प्रेम-पथ का पथिक कुछ नहीं देखता। भावी संकटों की वह परवाह नहीं करता। वह सब को झेलता है, सब का सामना करता है। उसके नेत्र केवल लक्ष्य की ओर रहते हैं। रत्नसेन कहते हैं:—

नैन लाग तेहि मारग पदमावति जेहि दीप।

× × ×

प्रेम-पंथ दिन घरी न देखा। तब देखी जब होइ सरेखा।

प्रेम की ज्वाला मानव हृदय में गुरु की कृपा से ही उत्पन्न होती है:—

गुरू बिरह चिनगी जो मेला।
जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥

इस प्रकार जायसी लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम की ओर आते हैं। उन्होंने प्रेम के उस शुद्ध रूप को दिखाने की चेष्टा की है जो परमात्मा के प्रेम में परिणत हो सके।

जायसी की प्रबन्ध-पटुता

जायसी का पद्मावत प्रबन्ध काव्य है। उसका उद्देश्य है प्रेम-गाथा द्वारा जीवात्मा को परमात्मा में लीन करना। कर्मों के लौकिक शुभाशुभ परिणाम दिखाना जायसी का उद्देश्य नहीं है, इसीलिए कथा का अवसान शान्त रस में हुआ है।

पद्मावत की कथा इतिवृत्तात्मक न होकर रसात्मक है। उसमे जीवन की अनेकरूपता नही है, पर उसमे मानव-जीवन-सम्बन्धी मर्मस्थलों का सफल चित्रण हुआ है। प्राचीन परम्परा के अनुसार समस्त कथा दो भागो में विभाजित है—आधारिक और प्रासंगिक। कथा का आधारिक अंश व्यक्ति-प्रधान न होकर घटना-प्रधान है। इसका कारण यह है कि जायसी की दृष्टि रत्नसेन के जीवन की सारी घटनाओ पर न होकर केवल उन्हीं घटनाओं पर है जिनका उनके काव्य के उद्देश्य से सम्बन्ध है। घटना-प्रधान काव्य का एक 'कार्य' होता है। पद्मावत मे 'कार्य' है पद्मावती को प्राप्त करना। इस दृष्टि से कथा के प्रासंगिक अंश जैसे—हीरामन तोता मोल लेने वाले का हाल, राघव चेतन का हाल, अलाउद्दीन का हाल, देवपाल का हाल तथा बादल का प्रसंग आदि इसी कार्य को चरितार्थ करने मे लगे हुए हैं। इन प्रासंगिक अंशों से आधारिक अंश का मार्ग बहुत कुछ निर्धारित हुआ है और दोनो का सम्बन्ध-निर्वाह अत्यन्त प्रशंसनीय है। कहीं-कहीं असंबद्ध प्रसंग विराम के रूप मे भी आगये हैं। फल-फूल और घोड़ों के नाम, पकवानो की सूची, सोलहो शृंगार का वर्णन आदि कई ऐसे असम्बद्ध प्रसंग हैं जिन से कथा-प्रवाह मे बाधा भी पड़ जाती है और उन्हे पढ़ते-पढ़ते जी ऊब जाता है। जायसी ने इन प्रसंगों का सन्निवेश केवल अपने पाडित्य प्रदर्शन के लोभ से किया है। इन से कथा वस्तु के विकास में कोई सहायता नहीं मिलती।

प्रबन्ध-काव्य में चरित्र-चित्रण का भी मुख्य स्थान है। जायसी इस दिशा मे बहुत कच्चे हैं। उन्होंने अपने किसी पात्र का चरित्र-चित्रण नहीं किया है। रत्नसेन, हीरामन तोता, पद्मावती, नागमती और राघव चेतन के प्रति उनका एक दृष्टिकोण है। अन्य पात्रो के सम्बन्ध मे उनका कोई दृष्टि-कोण भी नही मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि उनकी सहिष्णुता केवल व्यक्ति, पथ और मत की ओर अधिक झुकी हुई है।

पद्मावत : एक महाकाव्य

यह पहले बताया जा चुका है कि पद्मावत की रचना मसनवियों के ढंग पर हुई है, पर वह है हिन्दी-साहित्य का महाकाव्य। भारत के प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उनमें बहुत से पद्मावत में मिलते हैं। हम नीचे इस पर इसी दृष्टि से विचार करेंगे।

१. कथानक—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पद्मावत का कथानक कुछ तो ऐतिहासिक है और कुछ लोक-प्रचलित। अपनी कथा को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाने के लिए जायसी ने कहीं-कहीं काल्पनिक घटनाओं का भी सन्निवेश कर दिया है। नाटक की पाँचों सन्धियाँ भी इसमें मिलती हैं। समस्त कथा सर्गों अथवा खंडों में बँटी हुई है। प्रत्येक खंड न तो बहुत छोटा है और न बहुत बड़ा। सर्गों में सम्बद्धता भी पाई जाती है। ८ के स्थान पर इसमें ६८ सर्ग अवश्य हैं।

२. नायक—पद्मावत का नायक रत्नसेन है। वह उच्चवंशीय क्षत्रिय राजा है। उसमें धीरोदात्त नायक के समस्त गुण पाये जाते हैं।

३. रस—पद्मावत शृंगार रस-प्रधान काव्य है। उसमें शृंगार के दोनो पक्ष—संयोग और वियोग का चित्रण बड़ी सफलता से हुआ है। इस रस के अतिरिक्त वीर, वात्सल्य, करुण और वीभत्स रस का भी वर्णन मिलता है। हास्य का उसमें अभाव अवश्य है।

४. लक्ष्य—महाकव्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष मे से कोई एक होना चाहिए। पद्मावत का लक्ष्य है काम। इस लक्ष्य को संपादित करने मे जायसी को पूरी सफलता मिली है।

५. अन्य विशेषताएँ—इनके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं:—

[१] प्रारभ मे जायसी ने अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार ईश्वर, उसके पैगम्बर मुहम्मद साहब तथा उनके चार मित्रों की प्रार्थना की है और फिर कथा-वस्तु का निर्देश किया है।

[२] खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा भी प्रसंगानुसार मिलती है।

[३] समस्त काव्य दोहा, चौपाइयों में है। कोई भी खंड किसी अन्य छन्द में नहीं है। खंड के अन्त में दोहा मिलता है।

[४] खंड के अन्त में आगे आने वाली घटना का आभास नहीं मिलता।

[५] काव्य का नाम न तो कवि के नाम पर है और न नायक के नाम पर। इसका नामकारण नायिका के नाम पर हुआ है।

[६] प्रत्येक खंड का नाम वर्णनीय कथा के अनुसार है।

[७] इसमें सूरज—चाँद, दिन, प्रातःकाल शिकार, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, मुनि, स्वर्ग, युद्ध पकवान, विवाह, आदि का वर्णन भी है।

इस प्रकार पद्मावत में महाकाव्य के सभी लक्षणों का सन्निवेश बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। उसमे इन लक्षणों के साथ-साथ महाकवित्व भी पाया जाता है।

जायसी की बहुज्ञता जायसी की रचनाओं का अध्ययन करने से उनकी बहुज्ञता का परिचय मिल जाता है। उनकी बहुज्ञता को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. धार्मिक २ सामाजिक ३. साहित्यिक।

१—धार्मिक जानकारी—जायसी की धार्मिक जानकारी के विषय मे बहुत कुछ बताया जा चुका है। यहाँ केवल इतना और जान लेना पर्याप्त होगा कि उन्हें ज्योतिष, हठयोग, कामशास्त्र और रसायन की भी जानकारी थी। ज्योतिष के अतिरिक्त उन्हे अन्य विषयों की जानकारी ग्रन्थों के अध्ययन से नहीं अपितु साधु-सन्तों और फ़क़ीरों के सत्संग से प्राप्त हुई थी। 'पंचभूत' का प्रयोग उन्होंने पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ में किया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें दर्शनशास्त्र का ज्ञान नहीं था। पौराणिक कथाओं की जानकारी उन्हें थी अवश्य, पर वह बहुत पक्की नहीं थी। 'कैलास' को उन्होंने स्वर्ग के अर्थ में

प्रयोग किया है। रामायण और महाभारत के पात्रों का उन्हें अच्छा ज्ञान है।

२—सामाजिक जानकारी—जायसी को सामाजिक विषयों की भी जानकारी है। उनकी रचना पद्मावत से भूगोल और इतिहास का जो परिचय मिलता है वह यद्यपि अधूरा और सदिग्ध है तथापि उनकी जानकारी का अच्छा पता देता है। उन्हो ने अपने यात्रा-वर्णन में दूर-दूर के स्थानों के नाम बताये हैं और तीर्थों का उल्लेख किया है। उनकी कहानी जनश्रुति के आधार पर अवलम्बित है। अलाउद्दीन के समय की अन्य घटनाओं का भी उन्हें अच्छा ज्ञान है। इन विषयों के साथ-साथ जायसी का व्यवहार-ज्ञान भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। घोड़ों और भोजनों के अनेक भेदों के उल्लेख से उनके व्यावहारिक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। शतरंज के खेल का उन्हें अच्छा ज्ञान है।

३—साहित्यिक जानकारी—जायसी की साहित्यिक जानकारी को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—अ-अध्ययन, ब-छन्द, स- अलकार और द- रस।

अ. जायसी फारसी साहित्य के अच्छे ज्ञाता जान पड़ते हैं। उन्होंने पद्मावत में फ़िरदौसी और हाफिज के कई शेरों को अनुवाद-रूप में स्थान दिया है। फ़ारसी की चलती कहावतें भी उनकी रचनाओं में मिलती हैं। उनका संस्कृत-शब्द-भाडार अवश्य बहुत परिमित है। उनकी रचनाओं से उनका संस्कृत-ज्ञान आभासित नहीं होता। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने रीति-ग्रन्थो का क्रमपूर्वक अध्ययन किया था। वह बहुश्रुत थे। पद्मावत के ढंग के प्रबन्ध काव्य उनसे पहले बन चुके थे। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने काव्य-रीतियों को किसी पंडित से न सीख कर किसी कवि से ही सीखा था। उनके नखशिख में आये हुए उपमान आदि काव्य-प्रसिद्ध ही हैं। उनमें नवीनता नहीं है।

ब. जायसी को हिन्दी छन्द-शास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था। उन्होंने दोहा और चौपाई केवल दो छन्दों को अपनाया। इन छन्दों के प्रयोग में भी उन्होंने भद्दी भूलें की हैं। उनके बहुत से दोहे ठीक नहीं हैं। विषम-चरण में कहीं १२ मात्राएँ हैं और कहीं १६। इसी प्रकार उनकी चौपाइयाँ भी सदोष हैं। कहीं १६ मात्राएँ हैं और कहीं १५। इससे ज्ञात होता है कि उनका छन्दशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण है।

स. जायसी का अलंकार-सम्बन्धी ज्ञान अच्छा है। उनका अलंकार-विधान सर्वत्र भावोद्दीपन का ही कारण बना है। उनकी अलंकार-योजना काव्य-कौतुक अथवा नकली चमत्कार के लिए नहीं है। वह कवि में भरी हुई भावुकता की द्योतक है। उन्होंने सादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय अधिक लिया है। उनके उपमान अधिकांश कवि-समय-सिद्ध हैं। फारसी साहित्य से उन्हों ने जो उपमान लिये हैं वे हिन्दी में अवसर के अनुकूल सिद्ध नहीं हो पाये हैं। उनके सादृश्य-मूलक अलंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा को अधिक स्थान मिला है। हेतूत्प्रेक्षा से उन्हें बहुत प्रेम है। कवि-परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन में उन्हो ने भी अलंकारों की भरमार की है। इन अलंकारों के अतिरिक्त रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक, श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि उनके काव्य में मिलते हैं।

जायसी को रसों का अच्छा ज्ञान है। पद्मावत उनकी शृंगार रस-प्रधान रचना है। इसमें उन्होने शृंगार रस के दोनों पक्षों—वियोग और संयोग—का अच्छा सन्निवेश किया है। उनका विरह-वर्णन तो अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस रस के अतिरिक्त शान्त, अदभुत, भयानक, वीर, करुण, वीभत्स आदि रसों का भी परिपाक हुआ है। हास्य से उनकी रचना अवश्य शून्य है।

काव्य-रीतियों के अनुसार जायसी ने नखशिख और ऋतु-वर्णन भी किया है। उनकी प्रकृति संवेदनशील है। भावुकता उनके रोम-

रोम में भरी हुई है। इसीलिए वह अपने ज्ञान का काव्य में सदुपयोग कर सके हैं।

जायसी की भाव-धारा के सम्बन्ध में अब तक जो विवेचना की गई है उसमें उनकी काव्य-कला पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है। उससे यह ज्ञात हो जाता है कि वह पहुँचे हुए साधक और उच्च कोटि के कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में भक्ति-काल की प्रेममार्गी शाखा की मनोवृत्तियों तथा अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व किया है और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। भावुकता उनके रोम रोम में भरी हुई है। पद्मावत की एक-एक पंक्ति उनकी भावुकता की साक्षी देती है। जायसी सूफ़ी कवि थे। उनका हृदय मानव-प्रेम की पूत भावनाओं से भरा हुआ था। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम का निरूपण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वह वास्तव में उच्च कोटि के 'प्रेम की पीर' के कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही ने उनके काव्य को जन्म दिया है और उन्हें सफल कवि बनाया है। नागमती के विरह-वर्णन में उनके प्रेम की पीर का जो आभास पाठक को मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें इतनी तन्मयता, इतनी तीव्रता और इतना प्रवाह है कि पाठक का हृदय उस विरहिणी के स्वर में अपना स्वर मिला देता है। पाठक ही क्यों, सारी प्रकृति उसके प्रति संवेदनशील हो उठती है और पशु-पक्षी भी उसके साथ आँसू बहाने लगते हैं। इस प्रकार मानवीय भावों तथा अवस्थाओं का सृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापित करके जायसी ने अपनी उत्कृष्ट काव्य-कला का परिचय दिया है। नागमती का विरह-वर्णन वेदना से भरे हुए हृदय का अति-द्रावक चित्र ही नहीं है, उसमें शेष सृष्टि को हिला देने की, प्रकृति को संवेदनशील बना देने की भी अद्भुत क्षमता है। प्रकृति की संवेदनशीलता और सहानुभूति उनके बारहमासा-वर्णन तथा नखशिख वर्णन में भी मौजूद है। इस दृष्टि से जायसी छायावाद के बहुत

निकट पहुँच गये हैं।

भावचित्रण के अतिरिक्त दृश्य-चित्रण भी जायसी का बड़ा सफल हुआ है। उन्होंने दृश्य-चित्रण के साथ-साथ तत्सम्बन्धी भावों को भी अपने वर्णन में स्थान दिया है। जिन दृश्यों का माधुर्य भारतीय हृदय पर चिरकाल से अंकित है उनका समावेश भी उन्होंने अपनी रचना में किया है। सिंहल द्वीप में पनिघट का दृश्य-चित्रण इसी परम्परा के अनुसार हुआ है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि जायसी ने प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण मानव की रागात्मक वृत्तियों के अनुसार ही किया है। वन, उपवन, हाट, इत्यादि का जो वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है वह इसी दृष्टिकोण को लेकर हुआ है। उनके इस प्रकार के वर्णनों पर फारसी कविता का प्रभाव अधिक है। फारसी साहित्य में जंगल कष्ट का और बाग़ आनन्दोत्सव का सूचक है। जायसी ने जंगल, पर्वत और बाग़ों का चित्रण इसी दृष्टिकोण से किया है।

जायसी का वस्तु-वर्णन हिन्दी कवियों की प्राचीन परम्परा के अनुसार हुआ है। वस्तुओं के नाम गिनाने में जायसी उसी प्रकार दक्ष हैं जिस प्रकार हिन्दी के अन्य कवि। सिंहल द्वीप वर्णन, भोज वर्णन आदि में उनकी प्रवृत्ति नाम गिनाने की ओर अधिक गई है। उनका रूप-सौन्दर्य-वर्णन भी परम्परा-भुक्त ही है, पर यहाँ उनकी भावुकता निखर उठी है। सृष्टि के जिन जिन पदार्थों में सौन्दर्य है पद्मावती की रूप-राशि की योजना के लिए कवि ने सब का उपयोग बड़ी कुशलता से किया है। देखिए:—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-ज्योति नग हीर॥

× × ×

बेनी छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥

जायसी की भावव्यंजना पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता

सत्ता की उपासना पर ज़ोर दिया। मानव-मानव के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उनकी अटपटी वाणी द्वारा व्यक्त न हो सका। उन्होंने कर्मकाण्डी पंडितों को फटकारा, मुल्लाओं की निन्दा की, योगियों की भर्त्सना की, पर जीवन की संवेदनशीलता तक उनकी पहुँच न हो सकी। उनके कोरे उपदेश जीवन को स्पंदित न कर सके। जायसी ने उनकी इस कमी को पूरा किया। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित ऐतिहासिक कहानी को लेकर हिन्दू और मुसलमानों के बीच जिस कौशल में प्रेम का निरूपण किया उसने उन्हें कबीर से आगे बढ़ा दिया।

कबीर ज्ञानी साधक थे, उपदेशक थे, एक मत के प्रवर्तक थे। उन्हें गर्व था अपनी साधना-पद्धति पर, अपने व्यक्तित्व पर, अपनी विचार-धारा पर। जायसी की साधना प्रेम की पीर से सराबोर है। उसमें अहंकार नहीं दैन्य है, मानव-हृदय की कोमलतम प्रवृत्तियाँ हैं। वह चाहते तो किसी मत का प्रतिष्ठापन कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। समान दृष्टि दोनों की थी, दोनों हिन्दू और मुसलमान धर्मों से प्रभावित थे, पर जहाँ कबीर विधि-विरोधी थे वहाँ जायसी की विधि पर आस्था थी। कबीर ने लोक-व्यवस्था का तिरस्कार किया; जायसी ने उसे अपनाया और उसका आदर किया। इस प्रकार कबीर ने अपनी व्यंगपूर्ण फटकार से जो काम नहीं किया उसे जायसी ने अपनी-प्रेम-धारा से पूरा कर दिया। कबीर अप्रत्यक्ष और निराकार की खोज में भटकते ही रहे, किन्तु जायसी ने उस निराकार को अपने प्रेम की पीर से सबके निकट पहुँचा दिया। जायसी का प्रेम ईश्वर का प्रेम है और उसी का प्रचार करना उनके जीवन का उद्देश्य है।

जायसी सूफी कवि थे। कबीर विचारक थे। इसलिए जहाँ जायसी की सी भावना उनमें पाई जाती है वहाँ उनकी सी सहृदयता और भावुकता उनमें नहीं है। जायसी अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण अपने रहस्यवाद को स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित रूप देने में समर्थ हुए हैं।

कबीर का रहस्यवाद एक कवि का रहस्यवाद नहीं है। उनके दृश्य-संकेतों में न तो रमणीयता है और न मर्मस्पर्शिता। इसी प्रकार उनकी सूक्तियाँ भी नीरस हैं। उनमें केवल चमत्कार है, रस नहीं है। जायसी की सूक्तियाँ सरस और भावपूर्ण हैं। कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व में कवि नहीं हैं। जायसी अपने यथार्थ व्यक्तित्व में कवि हैं।

जायसी और तुलसी के काव्य-दृष्टिकोण में भी अन्तर है। तुलसी जायसी की अपेक्षा अधिक समन्वयवादी हैं। उनकी रचनाओं में धर्म, भाषा और साहित्य तीनों का समन्वय मिलता है।

जायसी और तुलसीदास

इसमें सन्देह नहीं कि ३८ वर्ष पीछे तुलसीदास ने जायसी की शैली को अपनाकर अपने महाकाव्य रामचरितमानस की रचना की, पर उसकी अन्तरात्मा उन्होंने भिन्न रखी। जायसी सूफी मुसलमान कवि थे। उन्होंने अपने महाकाव्य की इस्लामी-परम्परा के अनुसार रूप-रेखा निर्धारित की। अवतारवाद में उनका विश्वास नहीं था, इसलिए राम के लौकिक चरित्र को छोड़कर उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित ऐतिहासिक कहानी को अपने महाकाव्य का आधार बनाया। उनके काव्य का उद्देश्य था—प्रत्यक्ष जीवन की एकता का निरूपण करना और मानव को पार्थिव प्रतिबन्धों से मुक्त करके आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर उन्मुख करना। इसीलिए हमें उनके संयोग और वियोग के चित्रों में प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास मिलने लगता है जो इस विश्व के नाना रूपों में अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है। तुलसी के काव्य का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। तुलसी समाज-निर्माता हैं, सुधारवादी हैं, भगवान के साकार रूप में विश्वास करने वाले हैं। अपने महाकाव्य को मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन पर आश्रित करके उन्होंने एक ओर हिन्दू समाज, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की है और दूसरी ओर साकार उपासना का पाठ पढ़ाया है। राम के वह अनन्य भक्त हैं। उनके शील, शक्ति और सौन्दर्य का उनपर इतना

गहरा प्रभाव है कि वह उन्हीं के जीवनानुसार हिन्दूसमाज और हिन्दू परिवार का संगठन करना कल्याणकारी सिद्ध करते हैं। इसीलिए तुलसी मानव मानव के बीच सूक्ष्मतम मनोवृत्तियों का चित्रण करने में सफल हुए हैं। इस प्रकार उनका काव्यगत दृष्टिकोण जायसी के काव्यगत दृष्टिकोण से अधिक व्यापक और लौकिक है। जायसी ने केवल एकांतिक प्रेम का निरूपण किया है, तुलसी ने प्रेम के साथ-साथ मानव जीवन के कर्तव्यपक्ष का भी चित्रण किया है। तुलसी की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

तुलसी का रामचरितमानस व्यक्तिप्रधान प्रबन्ध-काव्य है और जायसी का घटना-प्रधान। रामचरितमानस का कार्य है रावण का वध और पद्मावत का कार्य है पद्मावती की प्राप्ति। इन्हीं कार्यों के अनुसार दोनों महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में घटनाओं का सन्निवेश किया है। दोनों के 'कार्य' महान हैं, पर अपने प्रबन्ध-सौष्ठव में तुलसी को जो सफलता मिली है वह जायसी को नसीब नहीं हुई। पद्मावत की कथा के बीच-बीच में उन्होंने अनावश्यक विरामों की बहुत भरती की है। इनसे कथा-प्रवाह में बाधाएँ उपस्थित हो गई हैं। ऐसा उन्होंने केवल अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ से किया है। तुलसी में यह मनोवृत्ति नहीं है। एक घटना के अवसान पर वह राम के अलौकिक स्वरूप की याद दिलाकर तुरन्त दूसरी घटना पर आजाते हैं।

जायसी के सम्बन्ध में यह बताया जा चुका है कि उनकी रचनाओं में तुलसी की सी वह अन्तर्दृष्टि नहीं है जो मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के बीच संघटित होने वाली अनेक मानसिक अवस्थाओं का विश्लेषण करती है। जायसी की भावव्यंजना रति, शोक और युद्धोत्साह तक ही सीमित है। इन भावों का उत्कर्ष उनकी रचनाओं में बहुत सुन्दर हुआ है। उनका विप्रलम्भ शृंगार-वर्णन हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। उनकी नागमती में हिन्दू सतियों की विरह-वेदना है। वह कराहती, आहें भरती, रोती-पीटती कभी-कभी मर्यादा

की सीमा भी लांघ जाती है, पर तुलसी की सीता अपनी वियोगावस्था में अत्यन्त सौम्य, गंभीर और शान्त है। उसमें आह और कराह नहीं है, दर्दभरे चीत्कार नहीं है। उसका रुदन मूक रुदन है। राम तड़पते हैं और अपने साथ प्रकृति को भी तड़पता हुआ, संवेदन-शील पाते हैं, पर सीता अपनी आग में चुपचाप जलती है। उनके प्रेम-जन्य विरह में प्रेम की विभिन्न भावनाओं का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सका है। वह अपने विरह में भी सन्तोषी है। वह समझती है कि उनके राम दूसरे के नहीं होंगे। उन्हें अपने राम के प्रेम पर पूर्ण विश्वास है। नागमती इस विश्वास से वञ्चिता है। इसीलिए वह छट-पटाती है, तड़पती है, आहें भरती है। उसकी आहें जायसी के प्रेम की पीर को व्यंजित करने में समर्थ हुई हैं।

जायसी ने वात्सल्य का भी चित्रण किया है, पर उसमें तुलसी की गंभीरता और गहराई नहीं है। राम के वन जाते समय माता कौशल्या के हृदय में अपने पुत्र के लिए जो सहज स्नेह उमड़ता हुआ दिखाई देता है वह रत्नसेन के जोगी होकर घर से निकलने के अवसर पर उनकी माँ में प्राप्त नहीं होता है। बाल-स्वभाव का अध्ययन तो जायसी में है ही नहीं। हास्य का भी उनमें अभाव है। रौद्र और वीर रस दोनों में समान रूप से व्यंजित हुआ है। दोनों समान रूप से क्षात्र धर्म के रक्षक भी हैं।

जायसी की अपेक्षा तुलसी का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत और पुष्ट है। धार्मिक क्षेत्र में जायसी अपने इस्लाम धर्म से अधिक प्रभावित हैं और उसका उन्हें अच्छा ज्ञान है पर उसके साथ ही उन्होंने साधु-सन्तों के समागम से हिन्दू धर्म की विभिन्न धाराओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है और दोनों का सफल समन्वय भी किया है। तुलसी हिन्दू धर्म की विभिन्न धाराओं का ही समन्वय कर सके हैं। इस्लाम धर्म की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है। सामाजिक क्षेत्र में तुलसी एक नवीन समाज के स्रष्टा हैं। उन्हें समाज की सभी बातों का ज्ञान है

पर वे हैं हिन्दू समाज के। इसका कारण उनके काव्य का आदर्श है। तुलसी अपनी सीमा के भीतर रहकर अपने आदर्श को चरितार्थ करने में सफल हो सके हैं। जायसी अपने आदर्श में तुलसी की अपेक्षा कम सफल हुए हैं। जायसी हिन्दू और मुसलमान दोनों की विचार-परम्परा को अपने काव्य में स्थान देकर सामाजिक दृष्टि में कबीर से तो आगे निकल गये पर इस्लाम धर्म की महत्ता स्थापित करके भी मुसलिम समाज का दृष्टिकोण न बदल सके।

साहित्यिक क्षेत्र में भी तुलसी जायसी से आगे हैं। जायसी छन्द-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता नहीं हैं। तुलसी ने दोहा, चौपाई, भजन, कविता, सवैया, आदि छन्दों को अपना कर अपने छन्दशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। अलंकार की योजना दोनों में स्वाभाविक है। जायसी का पौराणिक ज्ञान जनश्रुति के आधार पर है, पर तुलसी ने अपने धार्मिक वृत्तों का गंभीर अध्ययन किया है। जायसी की भाषा ठेठ अवधी है, पर तुलसी की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव है। व्रजभाषा पर भी उनका अधिकार है; हाँ, उसे उन्होंने प्रधानता नहीं दी है। इस प्रकार जायसी और तुलसी दोनों अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं।

जायसी का हिन्दी साहित्य में स्थान

प्रेममार्गी सूफी कवियों में जायसी सर्वोपरि और अग्रगण्य हैं। कल्पना तथा इतिहास के सुन्दर संमिश्रण से उन्होंने जिस कथा-काव्य का निर्माण किया है वह हिन्दी साहित्य में गर्व की वस्तु है। चित्तौरगढ और पद्मावती के प्रति हिन्दू जनता की जो आस्था रही है उसका वर्णन जब हम आततायी युग के एक मुसलमान कवि के मुख से सुनते हैं तब आत्म-विभोर हो जाते हैं। जायसी ने मुसलमान होकर भी हिन्दुओं की चलती कथाओं का आश्रय लिया और उनमें पतिपरायण हिन्दू नारी का पूत आदर्श, राजपूतों का शौर्य, क्षात्रधर्म, त्याग, प्रेम, विरह, सौन्दर्य, शृंगार आदि अनेक उपकरणों से जीवन

की लौकिक तथा आध्यात्मिक कथा को अभिनव विधि से सजाया। उनकी रचनाओं में शब्दों की सादगी और भावों का भोलापन देखते ही बनता है। वह उच्च कोटि के प्रेमी, भावुक और कवि हैं। प्रेम की पीर को मानव हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। अवधी को अपना कर उन्होंने उसे प्रबन्ध काव्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध कर दिया है। उनकी दोहा-चौपाई की पद्धति सहजयानी सिद्धों की पद्धति का अनुकरण करने पर भी अपनी नवीनता और आकर्षण लिये हुए है। जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में जागते हुए मालूम देते हैं। सूफ़ी रहस्यवादी काव्य में प्रेम की पीर का महत्त्व है, जायसी उससे भलीभाँति परिचित हैं। उन्हें इतिहास, भूगोल, ज्योतिषशास्त्र, हठयोग आदि का सम्यक ज्ञान है और वह हिन्दू रीतिरिवाजों से प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में समता है। वह किसी धर्म का खण्डन-मण्डन नहीं करते। उनकी उदार प्रकृति, उनके हृदय की कोमलता, उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग और अपने समय का सफल कवि घोषित करने में सफल हैं। जायसी को हम अपना कवि समझते हैं और उन्हें तुलसी और सूर की भाँति हिन्दी साहित्य में ऊँचा स्थान देते हैं।

---

४. महात्मा तुलसीदास

जन्म सं० १५८६ मृत्यु सं० १६८०

जीवन-परिचय

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म सं १५८६ के लगभग राजापुर, ज़िला बाँदा, में हुआ था। वह पाराशर गोत्र के सरयूपारी ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का हुलसी था। उनके विषय में जनश्रुति है कि वह बारह मास तक गर्भ में रहे और जब उत्पन्न हुए तब उनकी अवस्था पाँच वर्ष के बालक के समान ज्ञात होती थी और मुँह में दाँत थे। पैदा होते ही उनके मुख से 'राम' शब्द निकला। इन सब लक्षणों को देखकर उनके माता-पिता ने उन्हें मुनियाँ नाम की एक परिचारिका के आश्रय में दे दिया। मुनियाँ ने उनका पालन-पोषण किया और उनका नाम रामबोला रखा। इस जनश्रुति पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जन्म के अनन्तर तुलसीदास को अपने उदर-पोषण के लिए दर-दर ठोकरें खानी पड़ी थीं। इसका उल्लेख उन्होंने स्पष्ट रूप में 'कवितावली' के अनेक छन्दों में किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि उनके जन्म के थोड़े ही दिनों बाद उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था।

माता-पिता की सहज छत्र-छाया से वञ्चित होने के पश्चात् तुलसीदास किसी रामोपासक सम्प्रदाय के साधु के सम्पर्क में आ गये।

इससे उनकी पेट की चिन्ता जाती रही। वह साधु-सन्तों के साथ बराबर घूमते रहे और विद्याभ्यास भी करते रहे। हनुमान की उपासना उन्होंने अपनी छोटी अवस्था से ही प्रारम्भ करदी थी जो अन्त तक उनके जीवन के साथ बनी रही। उनके गुरु कौन थे, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर उन्होंने रामकथा पहले पहल अपने गुरु के मुख से शूकरक्षेत्र—वर्तमान समय का सोरों—में सुनी थी। पहली बार उन्होंने इस कथा का रहस्य नहीं समझा। दूसरी बार जब उनके गुरु ने फिर वही कथा सुनाई तब वह उनकी समझ में आगई। इस में यह स्पष्ट है कि उनको अपने गुरु के साथ कई वर्षों तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस सुयोग से उन्होंने पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपने गुरु से ही संस्कृत पढ़ी। गुरु काशी में रहते थे, इसलिए उन्होंने काशी में रहकर वेद, पुराण, दर्शन आदि का विधिपूर्वक अध्ययन किया। कहते हैं, काशी से वह कुछ दिनों के लिए राजापुर चले गये और वहीं दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्ना के साथ उनका विवाह हुआ। तरुण तुलसी रत्ना के रूप-गुण पर मुग्ध होकर अपना सब कुछ भूल गये। उनकी इस प्रकार की आसक्ति देख कर एक दिन रत्ना ने उनसे कहा:—

अस्थि-चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्री राम महँ, होति न तौ भव-भीति॥

अपनी स्त्री का यह व्यंग तुलसी सहन न कर सके। वह तुरन्त घर से निकल पड़े। गृह त्यागने के पश्चात् वह पुनः काशी आये और बड़ी तत्परता से धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। 'नाना पुराण निगमागम' आदि के अध्ययन से उनकी प्रतिभा को विकास का मार्ग मिल गया और उन्होंने अपना भावी पथ निश्चित कर लिया।

भलीभाँति प्रौढ़ता प्राप्त करने के पश्चात् तुलसीदास सम्भवतः सं० १६३१ में काशी से अयोध्या गये और वहीं उन्होंने विश्व-

महाकाव्य 'रामचरितमानस' का प्रणयन प्रारम्भ किया। 'मानस' के कुछ अंश अयोध्या में रचने के पश्चात् वह पुनः काशी चले आये और वहीं उन्होंने उसे समाप्त किया। इस ग्रन्थ की रचना में उनका अधिक समय लग गया। कहा जाता है कि 'रामचरितमानस' की ख्याति से चिढ़कर वहाँ के कुछ दुष्ट पंडितों ने उसे नष्ट करने की कुचेष्टा की और तुलसीदास को बहुत तंग किया। उनसे तंग आकर तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' की रचना की।

काशी में तुलसीदास का निवास पहले प्रहलाद घाट पर था। प्रहलाद घाट पर गंगाराम ज्योतिषी रहा करते थे। काशी आने पर तुलसीदास की उनसे मित्रता हो गई थी। इसलिए वह वहीं रहते थे। इन्हीं गंगाराम के लिए उन्होंने अपने एक ग्रन्थ 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना की थी। प्रहलादघाट पर वह कई वर्षों तक रहे। इसके बाद सम्भवतः अस्सी घाट पर चले आये। अस्सी घाट पर उनके मित्र टोडर रहते थे। सं० १६६९ में टोडर की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों में उनकी सम्पत्ति के लिए जो झगड़ा हुआ उसका निपटारा तुलसीदास ने किया। यह निपटारा पचायतनामे के द्वारा किया गया था। जो अब तक काशिराज के संग्रहालय में है।

तुलसीदास के समकालीन विद्वानों में मधुसूदन सरस्वती का बहुत मान था। उन्होंने तुलसी की असीम भक्ति और उनकी काव्य-मर्मज्ञता से प्रभावित होकर मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा की थी। उनके अन्य परिचित व्यक्तियों में रहीम का नाम भी लिया जाता है। यह भी कहा जाता है कि राजा मानसिंह भी उनसे मिलने के लिए एकाध बार काशी आये थे।

तुलसीदास सम्राट अकबर के समय में हुए थे। अकबर की मृत्यु के अनन्तर सं० १६६२ के लगभग काशी में उत्पातों का आरंभ हुआ। उस समय शासन-सूत्र शिथिल हो गया और देश भर में अशान्ति फैल गई। यह उत्पात कई वर्षों तक बना रहा। काशी में रहने के कारण

और शिव के उपासक होने के कारण तुलसी ने इस अशान्ति काल को 'रुद्र बीसी' समझा। इसलिए उन्होंने कवितावली और 'दोहावली' में इस उत्पात को शान्त करने के लिए शिव से प्रार्थना की। सं० १६६६ और सं० १६७१ के मध्य यह उत्पात और भी बढ़ गया। उस समय शनि मीन राशि पर थे। यह उत्पात बहुत दिनों तक बना रहा, पर अन्त में स्वतः शान्त हुआ।

उत्पात शान्त होने के पश्चात् काशी में महामारी का प्रकोप हुआ। नित्य सैकड़ों आदमी मरने लगे। इससे प्रभावित होकर उन्होंने कवितावली के अनेक छन्दों में माता पार्वती की वन्दना की। अन्त में महामारी भी शान्त हो गई। इसी अवसर पर उनकी दाहिनी बाँह में एक शूल प्रारम्भ हुआ जो धीरे-धीरे बढ़कर समस्त शरीर में फैल गया। इसकी शान्ति के लिए उन्होंने हनुमान, शिव और अन्त में राम से प्रार्थना की, पर शूल उनके घातक ही सिद्ध हुआ। इससे सं० १६८० में उनका शरीरान्त हुआ। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है:—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

तुलसी की रचनाएँ

तुलसी ने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इनमें से १. रामचरित मानस, २ विनय पत्रिका, ३. दोहावली, ४. कवितावली, ५. गीतावली, ६. रामाज्ञाप्रश्न, ७. बरवै रामायण, ८. रामलला नहछू, ९. कृष्णगीतावली, १०, वैराग्य संदीपनी, ११. पार्वती मंगल और, १२. जानकी मंगल हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:

१. रामचरित मानस—इस विश्व महाकाव्य का श्री गणेश सम्वत् १६३१ रामनवमी को हुआ। इसमे तुलसीदास ने एक सच्चे भक्त की भाँति अपने स्वामी राम का सम्पूर्ण जीवन दोहा-चौपाइयों में चित्रित किया है। प्रारम्भ में गणेश आदि देवताओं की वन्दना है, फिर गुरु

का स्मरण और इसके पश्चात् सन्त, सज्जन, दुर्जन तथा जीव मात्र का उल्लेख करके ग्रन्थ-परिचय और रचना के उद्देश्य की चर्चा की है। यह ग्रन्थ चरित्र-चित्रण, तथा विभिन्न चरित्रों की चित्तवृत्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से वेजोड़ है। हिन्दू-धर्म का तो इस कलिकाल में यह वेद है।

२. विनय पत्रिका—कहा जाता है कि तुलसी ने इसकी रचना काशी के पण्डितों से तंग आकर अपने भगवान राम की सेवा में प्रार्थना के रूप में की थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने राग-रागानियों द्वारा देवी-देवताओं के विनय-सम्बन्धी पद लिखे हैं। इसके पश्चात् ज्ञान, वैराग्य, संसार की नश्वरता, मोह माया, आदि पर दृष्टि डालते हुए कुछ अपने सम्बन्ध में भी निवेदन कर दिया है। इसमें संस्कृत-गर्भित भाषा का प्राधान्य है। वेणीमाधव दास ने इसका रचना काल सं० १६३९ बताया है।

३ दोहावली—यह ग्रन्थ गोस्वामी जी के ५७३ दोहों का संग्रह है। इन दोहों में से कुछ तो नवीन हैं, और कुछ उनकी अन्य रचनाओं से लेकर संग्रहीत किये गये हैं। अधिकांश दोहे उपदेशात्मक और भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले हैं। यह गोस्वामी जी की उत्तरकालीन रचना प्रतीत होती है।

४. कवितावली—इसका दूसरा नाम कवित्त रामायण भी है। इसमें राम कथा कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और पटपदी छन्दों में कही गई है। कुल छन्द संख्या ३६७ है। इसमें राम के शौर्य का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। इसकी भाषा शुद्ध व्रज भाषा है। इस ग्रंथ में तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में भी बहुत-सी बातों का ज्ञान हो जाता है और तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसका रचनाकाल सं० १६५५ से सं० १६७१ तक बताया जाता है। इसमें हनुमान बाहुक भी सम्मिलित है।

५. गीतावली—इस काव्य-ग्रन्थ का निर्माण सूरसागर की शैली के अनुसार किया गया है। इसमें राग-रागिनियों का सुन्दर समावेश है। कथा-प्रसंग कुछ भेद के साथ मानस से मिलता जुलता है। कुल कथा सात काण्डों में विभाजित है और कुल ३३० छन्द हैं। इन छन्दो पर सूर के पदों की स्पष्ट छाप है। राम कथा के सुन्दर अंशो को लेकर ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है, इसलिए कथा-वर्णन में क्रमबद्धता नहीं है। इसमें राम के सौन्दय-शृंगार का अधिक वर्णन है। इसकी भाषा व्रज भाषा है। इसका रचना काल सम्वत् १६४४ से सं० १६४६ तक माना जाता है।

६. रामाज्ञा प्रश्न—इसमें राम कथा का वर्णन दोहों मे किया गया है। दोहों का क्रम इस प्रकार रखा गया है कि प्रश्नकर्ता को दोहो-द्वारा ही शुभाशुभ परिणाम का पता चल जाता है। इसमे ४६-४६ दोहो के सात अध्याय हैं। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ पं० गंगाराम ज्योतिषी के लाभार्थ लिखा गया था। शकुन विचारने की यह सुन्दर काव्य-पुस्तक है। इसका रचना-काल सं० १६५५ अथवा सं० १६२३ माना जाता है।

७. बरवै रामायण—इस काव्य-ग्रन्थ मे राम-कथा बरवै छन्द में कही गई है। इसमे सात काण्ड और ६६ छन्द हैं। इसके अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि इसमे तुलसी ने स्फुट रूप से राम कथा-वर्णन की है। यह रस और अलंकार योजना-प्रधान ग्रन्थ हैं, इसलिए इसमें भावगाम्भीर्य और तन्मयता नहीं है। भाषा इसकी अवधी है। इसका रचनाकाल सं० १६६२ और सं० १६६४ के बीच मे माना जाता है।

८. रामलला नहछू—इस काव्य-ग्रन्थ मे केवल २० छन्द हैं। इसमे सोहर छन्द का प्रयोग किया गया है। ऐसे छन्दो को स्त्रियाँ मंगलो-त्सवों पर गाती हैं। इसमें राम के नख कटाने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। जन-साधारण मे प्रचलित 'नहछू' प्रथा को राम-कथा से सम्बन्धित

पर गोस्वामी जी ने इसमें शिष्ट शृंगार का पुट दे दिया है। इसकी भाषा अवधी है।

९. कृष्ण गीतावली—इस काव्य ग्रन्थ में कृष्ण-कथा का वर्णन है। यह स्फुट पदों का संग्रह है। ऐसे कुल ६१ पद इसमें मिलते हैं। इन पदों में शृंगार रस की प्रधानता है। भ्रमरगीत प्रकरण भी इसमें सन्निहित है। इनकी भाषा ब्रज भाषा है। इसका रचनाकाल सं० १६४८ के पश्चात् माना जाता है।

१०. वैराग्य संदीपिनी—यह ६२ छन्दों का छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और शान्ति का विशद निरूपण किया गया है और साथ ही सन्त-महात्माओं के लक्षण दिये गये हैं। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह तुलसी की प्रारम्भिक रचनाओं में से है। दोहा, चौपाई तथा सोरठा छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है। इसमें शान्त रस का निर्वाह बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। इसकी शैली उपदेशात्मक है। इसका रचनाकाल सं० १६२५ माना जाता है।

११. पार्वती मंगल—इस काव्य ग्रन्थ में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें अरुण और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसे छन्दों की संख्या कुल १६८ है। इसकी भाषा पूर्व अवधी है। इस रचना पर 'कुमार सम्भव' का प्रभाव है। इसका रचनाकाल सं० १६४३ माना जाता है।

१२. जानकी मंगल—इस काव्य-ग्रन्थ में राम और सीता के विवाह की कथा वर्णन की गई है। इसमें भी अरुण और हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसे छन्दों की संख्या कुल २१६ है। इसकी शैली उत्कृष्ट है। इसका रचना-काल सं० १६४३ माना जाता है।

तुलसी का समय

किसी कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करने के लिए उसके समय का वास्तविक ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से जब हम तुलसी के समय पर विचार करते हैं तब हमें पता चलता है कि उनका समय दो

पारस्परिक विरोधी सभ्यताओं का युग था। एक ओर भारतीय सभ्यता थी, दूसरी ओर विदेशी मुस्लिम सभ्यता। इन दोनों सभ्यताओं के आपस में टक्कर लेने से देश की साधारण अवस्था बिगड़ती जा रही थी। मुसलमानों को आये हुए लगभग तीन सौ वर्ष हो चुके थे, और यद्यपि देश के अनेक भागों में वे बस गये थे और बहुतों ने इस देश की अनेक बातों को अपना लिया था फिर भी बहुत से मुसलमान ऐसे थे जिनमें धार्मिक पक्षपात अभी कम नहीं हुआ था। अपने धर्म के प्रचार के साथ-साथ वे अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार में भी संलग्न थे। गो ब्राह्मण द्रोही होने के कारण हिन्दू जनता में उनका कोई स्थान नहीं था। उनसे संसर्ग रखनेवाला हिन्दू घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उनका शासन हिंसापूर्ण था। अनेक क्षेत्रों में हिन्दुओं पर खुले आम अत्याचार होते थे और शासन की ओर से उन्हें मुसलमान बनाने को उत्साहित किया जाता था। ऐसी दशा में हिन्दुओं में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इस क्षोभ ने उनकी दशा शोचनीय होती जा रही थी। उस आततायी युग में उन्हें अपना कहने वाला कोई नहीं था। राजपूतों का ह्रास हो चुका था, हिन्दू-आदर्श लुप्त हो चुके थे, धार्मिक चर्चा के लिए अवकाश और समय नहीं था।

हिन्दुओं की इस पतितावस्था का एक और भी कारण था। आदर्श के अभाव में हिन्दू जाति के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में फँसते जा रहे थे। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित, और रोग-ग्रस्त थे। वैरागी हो जाना तो साधारण-सी बात थी। जिसके घर की सम्पत्ति लुट गई अथवा स्त्री मर गई, वही मूड़ मुड़ाकर चट संन्यासी हो जाता था। इस प्रकार सारा हिन्दू समाज नाना प्रकार के साधु-संन्यासियों से भर गया था। इसमें सन्देह नहीं कि इन साधु-संन्यासियों में कुछ पहुँचे हुए भी थे, पर अधिकांश इनमें ऐसे ही थे जो भोली-भाली पीड़ित जनता को ठग लिया करते थे। इतना ही नहीं हिन्दू-समाज अपनी अन्य आन्तरिक त्रुटियों के कारण

भी जर्जर हो चला था। उसकी वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था गिर चुकी थी, ब्राह्मण पथ-भ्रष्ट हो रहे थे, समाज स्त्रैण बन रहा था, स्त्रियों का पतन हो रहा था। हिन्दुओं का एक वर्ग दूसरे वर्ग के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं रखता था। तंत्र-मंत्र, जादू-टोना आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार समस्त हिन्दू समाज कुछ तो राजनीतिक कारणों से और कुछ आदर्श के अभाव में बराबर गिरता ही जा रहा था। आवश्यकता थी उसे उठाने की, उसे उचित मार्ग पर लाकर पतन के गर्त में गिरने से बचाने की। इस आवश्यकता का अनुभव सर्वप्रथम दक्षिण भारत के सन्तों ने किया।

दक्षिण भारत में वैष्णव आचार्य श्री रामानुज स्वामी ने निम्न स्तर के हिन्दुओं को उठाना आरम्भ किया। उन्होंने वहाँ की हिन्दू जनता को उन्हीं की भाषा में उपदेश दिया। और भगवान की उपासना का क्षेत्र सबके लिए समान रूप से खोल दिया। वह मर्यादा के बड़े पक्षपाती थे। उनके श्री सम्प्रदाय में खान-पान, आचार-विचार आदि पर बड़ा ज़ोर दिया जाता था। भक्तप्रवर स्वामी रामानन्द इसी सम्प्रदाय में थे। किसी अनुशासन-सम्बन्धी विषय पर गुरु से मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आये। इस प्रकार जिस भक्तिवाद का जन्म दक्षिण भारत में हुआ उसे उत्तर भारत में लाने का सौभाग्य स्वामी रामानन्द को प्राप्त हुआ। स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत के निम्न वर्ग के हिन्दुओं को उठाने में बड़ी तत्परता दिखाई। उन्होंने देश भाषा में कविता लिखी, ब्राह्मण से चाण्डाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया और अपनी अमृतमयी वाणी से हिन्दू तथा मुसलमान को समान रूप से प्रभावित किया। इसका फल यह हुआ कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने उनकी शिष्यता स्वीकार की। कबीर उन्हीं के चेले थे। रामानन्द के पश्चात् कबीर ने ही उनके क्षेत्र को अपनाया, पर कबीर की झाड़-फटकार और उनके खण्डन-मण्डन से जनता को सन्तोष नहीं हुआ। उनकी वाणी में

जीवन के प्रति सहानुभूति नहीं थी। उनके राम रामानन्द के राम नहीं थे। उन्होंने रामानन्द के अवतार लेने वाले राम को निर्गुण रूप में देखा। भगवान का यह रूप तत्कालीन पीड़ित जनता के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध न हो सका। इसका फल यह हुआ कि धार्मिक चेतना की बागडोर कबीर-पंथियों के हाथ से निकल कर कुछ ऐसे मुसलमान सूफ़ी कवियों के हाथ में आ गई जिन्होंने तत्कालीन जनता में प्रचलित ऐतिहासिक कहानियों को लेकर भक्ति में ज्ञान के स्थान पर प्रेम का पाठ पढ़ाया। कुतबन, मझन और जायसी ऐसे ही कवि थे। उनकी वाणी में प्रेम की पीर थी, लौकिक पक्ष के साथ साथ आध्यात्मिक पक्ष प्रधान था। पर मानव मानव के बीच जैसी सहानुभूति होनी चाहिए उसका उनकी रचनाओं में अभाव था। उन्होंने अपनी कथाओं से जनता को यह तो सिखा दिया कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच प्रेम द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, पर यह न बताया कि मानव के दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने और उसके दुखों को मिटाने में उस परमात्मा का क्या हाथ है। इसी अभाव के कारण कबीर की भांति जायसी इत्यादि भी अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। बात यह थी कि उस समय की हिन्दू-जनता अपने से दूर रहने वाले निर्गुण ईश्वर को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। वह चाहती थी ऐसे ईश्वर को जो दुष्टों का दमन करके उनके जीवन में नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई शक्ति का संचार कर दे। जनता की इस आकांक्षा को तुलसी ने पूरा किया। उन्होंने अपने राम को जनता के जीवन में इतना घुला-मिला दिया कि ईश्वर और जीवात्मा में कोई अन्तर ही नहीं रह गया। इस प्रकार तुलसी के आविर्भाव से हिन्दी में एक नवीन साहित्य को स्थान मिला। कहा जाता है कि तुलसी के पहले भूपति कवि ने सं० १३४२ के लगभग दोहा-चौपाइयों में 'राम चरित रामायण' की रचना की थी और सं० १६४२ में रीतिकालीन परम्परा के अनुसार कवि मुनिलाल ने भी रामकथा का प्रणयन 'राम-

प्रकाश' नामक ग्रन्थ में किया, पर इन रचनाओं के होते हुए भी जो कीर्ति रामकथाकार के नाते तुलसी ने प्राप्त की वह पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी अन्य कवि को उपलब्ध न हो सकी। तुलसी के राम आज भी हिन्दुओं के उसी रूप में राम हैं जिस रूप में उन्हें उस आततायी युग के हिन्दू समाज ने अपनाया था।

तुलसीदास अपने समय के महापुरुष थे। उन्होंने एक साधारण ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर, जीवन की अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए, अपनी निःस्वार्थ सेवा एवं अलौकिक प्रतिभा से उस आततायी युग में हिन्दू जाति, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति की जिस प्रकार रक्षा की वह अपने में महान और विश्व की सभ्यता के इतिहास में बेजोड़ है। वस्तुतः बुद्धदेव के अनन्तर भारत में सब से बड़े लोक-नायक वही थे। उनका आविर्भाव ऐसी विषम एवं संकटापन्न परिस्थितियों में हुआ था जब भारत में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठा, और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। आवश्यकता थी इन समस्त परस्पर-विरोधिनी शक्तियों में समन्वय स्थापित करने की। तुलसीदास ने यही किया। वह तत्कालीन समाज के जीवन से भलीभाँति परिचित थे; पंडितों और अशिक्षितों के बीच वह रह चुके थे; साधु और असाधु, सन्त और असन्त, सज्जन और दुर्जन, दरिद्र और धनी प्रत्येक के जीवन के सम्पर्क में आचुके थे। नाना पुराण निगमागम का उन्होंने अध्ययन किया था। लोक-प्रिय साहित्य और साधना की नाड़ी भी उन्होंने पहचानी थी। इस प्रकार लोक और शास्त्र के व्यापक ज्ञान ने उनको अपने दृष्टिकोण में अभूतपूर्व सफलता प्रदान की। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के लोकपावन चरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया और उसमें मानव जीवन की व्यापक व्याख्या बड़ी सहृदयता एवं चतुरता से की। सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, धार्मिक

तुलसीदास का व्यक्तित्व

आदि सभी दशाओं के चित्रों और चरित्रों का उन्होंने अपनी रचनाओं में विधान किया। वस्तुतः उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, सन्त और असन्त का समन्वय, सज्जन और दुर्जन का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पंडित और मूर्ख का समन्वय, लोक भाषा और संस्कृत का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, सती और कामिनी का समन्वय, भगवान के ब्रह्मत्व, विष्णुत्व और शिवत्व का समन्वय—कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने अपने राम-काव्य को समन्वय का काव्य बना दिया। ऐसी प्रखर थी उनकी काव्य-प्रतिभा और ऐसा तीव्र था उनका बुद्धि-विवेक। उनके राम उस युग की जनता के जाने-पहचाने राम थे। पर राम के जिस रूप को, राम के जिन चरित्रों को तुलसी ने उसके सामने उपस्थित किया वह अपना नयापन लिये हुए था। निर्गुणियों के राम में नाम की महिमा थी, जीवन के जीवन राम की महिमा नहीं थी। तुलसी ने निर्गुण राम को अवधविहारी राम के जीवन से सम्बन्धित करके सगुण और साकार राम में परिणत कर दिया। उनका यही प्रयत्न उन्हें लोकनायक बनाने में समर्थ हुआ।

तुलसी समन्वयवादी तो थे ही, मर्यादावादी भी थे। समन्वयवाद की झोंक में, परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के आवेश में उन्होंने आर्य मर्यादा का, आर्य गौरव का हनन नहीं किया। मर्यादा का उल्लंघन उनको क्षण मात्र के लिए भी असह्य था। उन्हें एक नवीन हिन्दू समाज का संघटन करना था और उसमें लोकधर्म की व्यवस्था करनी थी। वह सामाजिक सभ्यता के पक्षपाती थे। हिन्दू समाज के हित के लिए वह वर्ण-व्यवस्था को आवश्यक समझते थे। उनकी दृष्टि में वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं, भाव-विभाग भी था। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिए वह समाज में छोटी-बड़ी

श्रेणियों का विधान अनिवार्य समझते थे। राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शासित-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक इत्यादि भेदों के कारण समाज में जो अनेकरूपात्मक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हैं उनके निर्वाह के अनुकूल मन, वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका चरम लक्ष्य था और इन सम्बन्धों के सम्यक निर्वाह मे ही वह सब का कल्याण मानते थे। उनका कहना था:—

> बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
> चलहि सदा पावहिं सुख, नहिं भय, सोक न रोग॥

अपने इसी दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास ने मर्य्यादा का कहीं भी उल्लंघन नहीं होने दिया। उन्होंने अपने 'मानस' मे ऊँच और नीच दोनों श्रेणियों के पात्रों की व्यवस्था की, पर दोनो को अपनी अपनी लोक-मर्य्यादित सीमा के भीतर ही अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर दिया। श्वपच ज्ञानी होने पर भी, राम का अनन्य भक्त होने पर अपनी सीमा को तोड़ कर पंडितों के साथ बैठने का दावा नहीं करता। राम की दृष्टि मे, उच्च वर्ण के लोगों की निगाह मे उसका सम्मान अवश्य बढ़ गया, पर अपनी इस स्थिति से उसने लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। बात यह थी कि तुलसीदास ने उच्च श्रेणी के लोगों मे अधिक मान अथवा अधिक अधिकार के साथ-साथ अधिक कठिन कर्तव्यों की योजना भी कर दी थी। उनका विश्वास था कि जब तक उच्च वर्ग वालों में कर्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी तबतक निम्न श्रेणी वालों मे ईर्ष्या-द्वेष का भाव जाग्रत नहीं हो सकेगा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उनके 'मानस' मे उच्च वर्ग वाले अपने कर्तव्यों की गुरुता का सदैव ध्यान रखते हैं। सती सीता के निर्मल चरित्र पर दोष लगाने वाले धोबी का राम ने सिर नहीं काटा, उस दोष के परिहार का प्रयत्न किया। बड़े जब तक अपने से छोटों के प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करेंगे तब तक छोटों को उनके

विरुद्ध जाने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी विचार से प्रेरित होकर तुलसी ने छोटे-बड़े सब के लिए कर्तव्य की व्यवस्था की है और राम-राज्य का आदर्श उपस्थित किया है। उनके 'राम राज्य' में सब लोग मर्यादा की रक्षा करते हैं और अपने अपने स्थान पर सुखी और सतुष्ट हैं। उनका मर्यादावाद किसी की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करता, किसी पर अनुचित दबाव नहीं डालता, किसी को तग नहीं करता। उनका मर्यादावाद हिन्दू समाज के सुख और कल्याण के लिए है। इसीलिए वह लोकनायक हैं, समाज-सुधारक और समाज-स्रष्टा हैं, हिन्दू-संस्कृति और सभ्यता के पोषक और रक्षक हैं।

तुलसीदास के व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता है उनकी आशा-वादिता। वह आशावादी हैं। अपने विचारों मे, अपने स्वप्नो मे, अपनी कल्पनाओं मे उनका अटल विश्वास है।' उनका यही विश्वास उन्हें निराश होने का अवसर नही देता। अपने चारो ओर खलो की प्रभुता, दुष्टों की बहुलता, वर्णाश्रम धर्म का ह्रास, क्षात्र धर्म का पतन, पाखण्ड और पापाचार का नग्न नृत्य देख कर भी वह एक क्षण के लिए अपने उद्देश्य से, अपने विश्वास से नहीं डिगते। लोक-कल्याण के लिए 'राम राज्य' स्थापित करने के वह इतने उत्कट प्रयासी हैं कि उन्हें अपने प्रयास में, अपनी लगन मे, अपने उत्साह मे निराशा की कहीं झलक तक दिखाई नहीं देती और नैराश्य से उन्हें सरोकार ही क्या? जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्मस्वरूप भगवान की अनन्त करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास फटक ही कैसे सकता है? तुलसी अपने राम के सच्चे भक्त हैं। वह समझते हैं और अच्छी तरह समझते हैं कि उनके राम अपनी शक्ति का, धर्म-बल का, लोक-बल का प्रकाश करेंगे। उनकी यही आशावादिता उन्हें अपने पथ पर अग्रसर किये हुए है। वह स्वयं आशावादी हैं और अपने साथ हिन्दू-जनता को, अपने समाज को—उस समाज को जिसके वह नायक, पोषक, और रक्षक हैं—आशावाद का मधुर संगीत सुनाते चलते हैं।

आशावाद के साथ-साथ तुलसीदास का भाग्यवाद पर भी अटल विश्वास है, पर उनका भाग्यवाद अकर्मण्यों और पुरुषार्थहीन व्यक्तियों का भाग्यवाद नहीं है। अपने भाग्य पर अटल विश्वास रखते हुए भी वह अपनी परिस्थितियों से, अपने कर्तव्य की जटिलताओं से, अपने उद्देश्य के गुरुतर भार से विमुख नहीं है। उनका भाग्यवाद पुरुषार्थी व्यक्तियों का भाग्यवाद है—वह भाग्यवाद है जिसमें अकर्मण्यता नहीं, शिथिलता नहीं, मुँह छिपा कर विषम परिस्थितियों से भागने की झुँझलाहट नहीं, वरन् है समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने की तीव्र आकांक्षा। इस आकांक्षा ने उनके भाग्यवाद में स्फूर्ति भर दी है। कबीर की भाँति उनका भाग्यवाद कोरा उपदेश न बन कर निष्काम कर्म की शिक्षा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके विश्वामित्र, दशरथ, भरत, तथा माताएँ आपत्ति पड़ने पर भाग्य को रोती हैं, पर राम दारुण विपत्तियों में भी फूल की भाँति खिले रहते हैं और अपने कर्तव्य पर अटल हैं। इस प्रकार उनकी राम-कथा में भाग्य तथा निष्काम कर्म की दो धाराएँ एक साथ बहती हुई मिलती हैं। इन दोनों धाराओं के सुन्दर समन्वय से ही तुलसी के महाकाव्य का ध्येय निश्चित हुआ है। तुलसी साकाङ्क्ष कर्म के प्रदर्शन के साथ-साथ निष्काम कर्म पर बराबर ज़ोर देते रहते हैं। इसी में उनके काव्य का महत्त्व निहित है। फलाफल के पचड़े में न फँस कर वह ईश्वर की अनुकंपा पर विश्वास रखने की सब को शिक्षा देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के समन्वयवाद ने उनके धार्मिक स्वरूप को निश्चित किया है, उनके मर्य्यादावाद ने उनकी सामाजिक सभ्यता की रूपरेखा निश्चित करने में सहायता दी है, उनके आशावाद ने उन्हें सन्मार्ग की ओर अग्रसर किया है और उनके भाग्यवाद ने उनमें निष्काम कर्म की प्रेरणा उत्पन्न की है। तुलसी के हृदय में व्यक्तित्व का निर्माण इन्हीं चारों वादों के सुन्दर समन्वय से हुआ है।

लोकनायक के रूप में तुलसीदास का जो व्यक्तित्व है उसे हम

देख चुके। अब हमें कवि के रूप में तुलसीदास का व्यक्तित्व देख लेना चाहिए। कवि के रूप में तुलसीदास हिन्दी साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी बेजोड़ हैं। अपनी रचनाओं में वह दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। भक्त और दार्शनिक। राम उनके इष्टदेव हैं और उनमें उनका अटल विश्वास है। अपने इसी अटल विश्वास के कारण वह समस्त संसार को सिया-राममय देखते हैं। राम के प्रति उनकी भक्ति-भावना अतुलनीय है। कथा-प्रवाह के झोंक में, पात्रों के चरित्र-चित्रण की धुन में, अलंकार और रस के आयोजन में, भाषा की सजावट और सौन्दर्य-वृद्धि में उनका ध्यान अपने इष्टदेव की ओर ही रहता है। शुष्क तत्वज्ञान उन्हें प्रिय नहीं है। वह जब कभी उसकी चर्चा करते हैं तब वह उसे अपनी सहज भावुकता से मधुर और सरस बना देते हैं। चरित्र-चित्रण में वह अपना सानी नहीं रखते। उनके सभी पात्र संसार के जीव हैं। उनमें जो अलौकिकता है वह भी बोधगम्य है। उनके पात्रों के प्रत्येक आचरण में कोई-न-कोई विशेष लक्ष्य है और उस लक्ष्य से मानव जीवन के किसी-न-किसी अंग पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने काव्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया है। भाषा की दृष्टि से उनका अधिकार अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर है। उनकी भाषा जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। विनयपत्रिका में उनकी भाषा का प्रवाह देखने योग्य है। उन्होंने सभी काव्य-पद्धतियों को, सभी शैलियों को समानाधिकार से अपनी रचनाओं में स्थान दिया है और उन्हें अपनी प्रतिभा के रंग में रँग दिया है।

तुलसीदास मानव थे; हाड़-मास के हमारे-जैसे पुतले थे; उनके कवित्व में, उनके लोकनायकत्त्व में उनका मानवत्त्व छिपा हुआ था। दैन्य और विनय की वह साकार प्रतिमा थे। सरलता उनके जीवन का आभूषण था। उनका स्वभाव अत्यन्त मृदुल, शान्त, गंभीर और नम्र था। अपने इष्टदेव के वह सच्चे भक्त थे। और उन्ही के अनुकूल

उन्होंने अपना जीवन बनाया था। वह चाटुकार नहीं थे। धन का लोभ, दूसरों से सम्मान पाने की लालसा, नाम कमाने की महत्त्वाकांक्षा, उनमें नहीं थी। सदाचार की वह मूर्ति थे। भारतभूमि पर जन्म लेने का उन्हें गर्व था। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उनका व्यक्तित्व महान था।

तुलसीदास का मत

तुलसीदास स्मार्त्त वैष्णव थे। स्मार्त्त वैष्णव वेद-स्मृति-विहित संस्कार और आचार-विचार का पालन करते हुए सब देवताओं का पूजन आदि करते हैं। वे किसी से द्वेष नहीं मानते, केवल भक्ति के लिए अपने इष्टदेव विष्णु भगवान को मानते हैं। तुलसीदास ने इसी धर्म के भीतर रह कर तत्कालीन समाज में लोक-धर्म की स्थापना की। उनका लोक-धर्म मानव समाज में प्रचलित सुख-दुःख, अच्छाई-बुराई, राग-द्वेष पर अवलम्बित था। लोक-धर्म में तीन बातें होती हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। जीवन की जटिल और रहस्यमयी परिस्थितियों से भलीभाँति परिचित न होने के कारण साधकों ने उपासना क्षेत्र में कभी कर्म की और कभी ज्ञान की प्रतिष्ठा स्थापित की। इसलिए उनकी साधना उन्हीं तक सीमित रही, लोक-धर्म का प्रकृत स्वरूप उसे प्राप्त न हो सका। कबीर, नानक, दादू पहुँचे हुए सन्त थे, इसमें सन्देह नहीं, पर उनकी साधना व्यक्तिगत साधना थी, एकांगी थी। उनका अनुसरण समाज के कुछ व्यक्तियों ने किया, सारे समाज ने नहीं किया। तुलसीदास ने यह भूल नहीं की। उन्होंने कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों में सामंजस्य, समन्वय स्थापित किया। उनके इस प्रकार के समन्वय में लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं था, जीवन के सुख-दुःख और समाज की व्यवस्था का तिरस्कार नहीं था, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ नहीं था, मूर्खता छिपाने के लिए वेद-शास्त्र की निन्दा का अनर्गल प्रलाप नहीं था। वह लोक-संग्रही थे, लोक-विरोधी नहीं थे। उनकी साधना जीवन के राग-द्वेष, सुख-दुःख,

प्रवृत्ति-निवृत्ति, इदं-अहम् के बीच की साधना थी। अपनी इस साधना में उन्होंने कर्म और ज्ञान को ही स्थान नहीं दिया, बल्कि उस समय के उन समस्त देवताओं को भी स्थान दिया जिनके कारण शैवों, वैष्णवों, शाक्तों तथा इसी प्रकार के अन्य मतावलम्बियों में पर्याप्त भेद दिखाई पड़ता था। इसीलिए उन्होंने अपने प्रत्येक ग्रन्थ में सब से पहले गणेश की वन्दना की। उनके इष्टदेव थे राम। यदि वह ग्रन्थारम्भ में राम की वन्दना करते तो इसमें उनके ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं हो जाता, पर ऐसा करके वह लोक-रीति का पालन न कर पाते। लोक-रीति का उल्लंघन करना लोकधर्म का विरोध करना था। इसलिए तुलसी ने अपनी राम कथा में लोक-रीतियों का, जनता की रुचि-अरुचि का, उसके धार्मिक विश्वासों का बराबर ध्यान रखा। कोई नया पंथ चला कर गुरु बनने का दंभ उनमें नहीं था। संसार जैसा है, और उसमें जैसे व्यवहार होते हैं, उन सब का समाहार उन्होंने अपनी राम-कथा में किया और एक ऐसे धर्म की स्थापना की जिसे अपनाकर समस्त धर्मावलम्बियों ने अपना जीवन सफल कर लिया।

तुलसीदास के लोक-धर्म में गार्हस्थ्य धर्म का भी समन्वय हुआ है। गार्हस्थ्य जीवन सामाजिक जीवन की एक इकाई है। इस इकाई को सबल और पुष्ट किये बिना सामाजिक जीवन का भव्य प्रासाद नहीं खड़ा किया जा सकता। इसलिए तुलसीदास ने अपनी राम-कथा में पारिवारिक जीवन की जटिल और गंभीर परिस्थितियों को सुलझाने की सफल चेष्टा की है। वास्तव में उनका 'मानस' पारिवारिक जीवन की विशद व्याख्या है। इस व्याख्या के अन्तर्गत ही उन्होंने अपने लोक-धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचाना है और उसे प्रतिपादित करने में, जनसमाज के बीच प्रचारित करने में समर्थ हुए हैं। आज यह उसी का प्रभाव है कि हम प्रत्येक हिन्दू घर में, चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, राम कथा की चर्चा सुनते हैं और सीताराम के साथ

अपरोक्ष सम्बन्ध स्थापित करके अपनी आत्मा पवित्र करते हैं।

रामानन्द के शिष्यों की दो श्रेणियां थीं। उनकी प्रथम श्रेणी में कबीर, धन्ना, सेना, पीपा आदि संत थे जिन्होंने राम को निराकार रूप में ग्रहण किया। इसके विरुद्ध उनकी दूसरी श्रेणी में होने वाले भक्तों ने, जिसमें तुलसीदास हुए, राम को साकार रूप में ग्रहण किया। इस द्वितीय श्रेणी के भक्त राम को विष्णु का अवतार मानते थे।

तुलसी की भक्ति का स्वरूप

तुलसीदास राम-भक्ति के उपासक थे। लोक में वर्णाश्रम धर्म के वह पक्के समर्थक थे, पर उपासना के क्षेत्र में जाति-पाति की मर्य्यादा को व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक क्षेत्र में उनका मत शंकराचार्य से बहुत-कुछ समता रखता था पर मोक्ष की अपेक्षा वह भक्ति को अधिक काम्य समझते थे। उन्होंने कभी मोक्ष की चिन्ता नहीं की। राम की भक्ति में वह अपने जीवन का, अपनी साधना का उत्कर्ष समझते थे।

तुलसीदास मध्ययुग के भक्त थे। इस युग के भक्तों का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ भागवत पुराण था, परन्तु अन्यान्य पुराणों को भी उन्होंने प्रमाण रूप से स्वीकार किया था। भागवत पुराण के अनुसार तुलसी के राम स्वयं भगवान के रूप हैं। उन्होंने धर्म की हानि और राक्षसों की वृद्धि के कारण संसार की पीड़ा दूर करने के लिए मनुज रूप में अवतार लिया है। तुलसीदास ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—निर्गुण और सगुण। उनकी सम्मति में निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप दुर्लभ है। वह कहते हैं :—

> निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
> सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥

तुलसीदास ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जो भगवान निर्गुण हैं, अरूप हैं, वही भक्त के प्रेम-वश सगुण रूप धारण करते हैं भगवान के वास्तविक रूप को समझने के लिए उनके दोनों रूपों की उपासना करना आवश्यक

है। इस प्रकार उन्होंने अपनी भक्ति मे दोनों रूपों का महत्त्व दिखाया। सगुण उपासना को लोक धर्म के अनुकूल बनाया है। वह कहते हैं:—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि, पुरान, बुध, बेदा॥
अगुन, अरूप, अलख, अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥

× × ×

भगवान के इन दोनों रूपों की उपासना के दो मार्ग हैं—ज्ञान और भक्ति। तुलसीदास की सम्मति मे ज्ञान मार्ग कृपाण की धारा है। उस पर से गिरने देर नहीं लगती। उसे यदि किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्य पद प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु भक्ति मार्ग का अनुसरण करने से वह कैवल्य पद बिना इच्छा के प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति भगवान की कृपा से प्राप्त होती है। अब प्रश्न यह है कि भगवान का कृपा किस प्रकार प्राप्त की जाय? इसके लिए दो उपायों का विधान है—वैधी भक्ति और रागात्मक भक्ति। कर्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किये जाते हैं और उन नियमों के अनुसार जो उपासना की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। इसके पाँच अंग होते हैं—१. उपासक, २. उपास्य ३. पूजा द्रव्य, ४. पूजा विधि और ५. मत्र जप। मद श्रद्धा वालों के लिए इस प्रकार की भक्ति अत्यन्त उपयुक्त होती है। दूसरे प्रकार की भक्ति है रागात्मक। स्वाभाविक रूप से जब भगवान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वही भक्ति रागात्मक भक्ति कहलाती है। वैधी भक्ति का चरम लक्ष्य रागात्मक भक्ति ही है। रागात्मक और वैधी भक्ति के साधक शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलनो के द्वारा भगवान का भजन करते हैं पर भक्त के हृदय मे रागात्मक वृत्ति का उदय क्रमानुसार १. श्रद्धा, २. साधु-संग, ३. भजन क्रिया, ४. अनर्थ-निवृत्ति, ५. निष्ठा, ६ रुचि, ७. आसक्ति, ८. भाव और ९. प्रेम द्वारा होता है। प्रेमोदय होने पर भक्तो मे पाँच प्रकार स्वभाव हो सकते हैं:—

१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४ वात्सल्य और ५. मधुर। भक्ति की इस व्याख्या के अनुसार तुलसीदास की भक्ति रागात्मक है और दास्य स्वभाव से उन्होंने राम की भक्ति की है। उनका कहना है कि सेवक-सेव्य भाव से बिना संसार तरना असंभव है। उत्तर कांड में राम कहते हैं :—

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

महात्मा तुलसीदास के इस दृष्टिकोण ने उनके राम-परक साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। दास्य भाव में ऐश्वर्य-बोध का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भक्त को भगवान् के तीन रूपों पर अधिक जोर देना पड़ता है। भगवान् के ये तीन रूप हैं—१. क्षमावान् रूप २. शरणागत-वत्सल रूप और ३. करुणायतन रूप। इन रूपों के द्वारा भगवान् भक्तों के बड़े-से-बड़े पातकों को क्षमा कर देते हैं, उनकी शरण में जाने पर भक्त कृतकृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप नष्ट हो जाते हैं। तुलसीदास ने भगवान् के इन तीनों रूपों का बार-बार उल्लेख किया है। यही कारण है कि उनके राम-काव्य में ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य हो ही नहीं पाया। भगवान् के ऐश्वर्य-रूप, का उनपर इतना अधिक प्रभाव है, वह राम के शील, सौन्दर्य और शक्ति पर इतने मुग्ध हैं कि वह उनकी बराबर याद दिलाते चलते हैं। उनके राम सौन्दर्य के आगार हैं, शक्ति के प्रतीक हैं और शील की प्रतिमा हैं। सगुणोपासना के यही तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। सौन्दर्य भगवान् का लोकपालन रूप है, शील भगवान् का लोक-रंजन रूप है और शक्ति भगवान् का उद्भव और लय का रूप है। तुलसी की भक्ति इन्हीं तीनों सोपानों से होकर ऊपर उठी है। भक्ति का अधिकारी होने के लिए इन तीनों सोपानों में से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संक्षेप में तुलसीदास की भक्ति का यही स्वरूप है।

अब तुलसीदास के दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध में भी जान लेना आवश्यक है। हम पहले कह आये हैं कि तुलसीदास समन्वयवादी हैं।

तुलसीदास के दार्शनिक विचार

उनके समय की धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियां उनके समन्वयवाद को सफल बनाने में सफल हुई हैं। इस दृष्टि से उनका भक्ति-ज्ञान का समन्वय भी अद्वितीय है। वास्तव में सच्चे साधक के लिए साध्य की एकता के कारण भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं। इसीलिए वह कहते हैं :—

ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

पर दोनों एक दम पृथक मार्ग नहीं हैं। उपासना क्षेत्र में ज्ञान भक्ति की और भक्ति ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इसी दृष्टि से तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया है, पर उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्व दिया है। उनके राम न केवल ब्रह्म हैं, न केवल महा विष्णु हैं, न केवल मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, वरन् तीनों के सामञ्जस्य में पूर्ण परम आराध्य हैं, ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है। इस विषय को तुलसीदास ने कई स्थलों पर प्रकट किया है। वह कहते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत, अलख, अनादि, अनूपा॥

यही निराकार राम कला के सहारे साकार हो जाते हैं। तुलसीदास कहते हैं :—

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुण ब्रह्म सगुन भये जैसा॥

निर्गुण ब्रह्म का न तो कोई नाम ही हो सकता है और न रूप ही। इस प्रकार जब वह नाम और रूप से परे है तब वह किस प्रकार समझ में आ सकता है। इस तर्क के आधार पर वह यह कहते हैं कि जो मनुष्य सगुण का सहारा लिये बिना निर्गुण की चर्चा करता है, हम उसके दास बनने के लिए तैयार हैं। वास्तव में ऐसी चर्चा सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अलख के लखने वालों को उन्होंने करारी फटकार बताई है।

ब्रह्म चाहे निर्गुण हो चाहे सगुण, इसमें तो सन्देह ही नहीं कि वह सर्वव्यापी है। तब वह निराकार है, क्योंकि आकार में एकदेशीयता आ जाती है। इसीलिए जहाँ ब्रह्म के रूप की चर्चा की गई है वहाँ कोई विशिष्ट आकार न बताकर उनकी विश्वरूपता का वर्णन कर दिया गया है।

यह तो हुए तुलसीदास के ब्रह्म-सम्बन्धी, साकार और निराकार सम्बन्धी दार्शनिक विचार। अब यह देखना है कि उनके जीवात्मा-सम्बन्धी क्या विचार हैं। इस विषय में उनका कहना है कि जीवात्मा ब्रह्म का अंश मात्र है। वह स्वभावतः चेतन और निर्मल है। वह कहते हैं:—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन, अमल, सहज सुखरासी॥

इस प्रकार जीव को ब्रह्म का अंश कहना अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है जिसके अनुसार जीव और जगत्, चित् और अचित्—दोनों ईश्वर के अंग हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् (जीव) और स्थूल अचित् (जड़ जगत) की रचना हुई है। इस से यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास परमार्थ दृष्टि से अद्वैत मत को मानते हैं, पर भक्ति के व्यवहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वह अधिक अच्छा समझते हैं।

ब्रह्म और जीव के बीच जो भेद दिखाई पड़ता है वह तुलसीदास के मतानुसार मायाकृत है। जीवात्मा माया के वश से अपने वास्तविक रूप को भूला हुआ है। यह बन्धन, यह गाँठ यद्यपि झूठी है, तथापि वह कठिनाई से छूटती है। वह कहते हैं:—

सो माया बस भयउँ गोसाईं। बँधेउँ कीर मर्कट की नाईं।
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

× × ×

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

तुलसीदास की दृष्टि से माया और जीवात्मा की गाँठ केवल इसलिए झूठी है कि वह त्रिकालबाध्य नहीं है। जब तक वह भासती है तभी तक उसकी सत्ता प्रतीत होती है। निर्गुण ब्रह्म अपनी इच्छा से भेद रूप में परिणत होकर अपनी इच्छा से अपनी विभूति-माया को पुनः अपने भीतर लोप कर लेता है। इस तत्त्व का जान लेना ही दुःखों से मुक्ति का कारण है; परन्तु इस बात को ब्रह्म का अंश—जीव—तब तक नहीं जान सकता जब तक परमात्मा की उस पर कृपा-दृष्टि न हो। भगवान् की कृपा-दृष्टि होने पर माया का बन्धन टूट जाता है और तब जीव का ब्रह्म से मेल हो जाता है। तुलसीदास के इस मत पर भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत की छाप है।

माया दो प्रकार की होती है—विद्या माया और अविद्या माया। नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि विद्या माया का परिणाम है और इसे ही सत्य समझ लेना अविद्या माया का फल है। वास्तव मे अविद्या माया के कारण ही जीव को दुःख होता है। शरीर-सम्बन्ध से जीव जब अपने को संसारी समझने लगता है तभी वह मोहमुग्ध होता है। यह 'मोह सकल व्याधिन कर मूला' है। पर यह है प्रभु की प्रेरणा का कारण। प्रभु की प्रेरणा होती है उनके माया-प्रेरक और बन्ध-मोक्षप्रद गुणों के कारण। मायाप्रेरक गुण से विद्या माया का और बन्धमोक्षप्रद गुण के कारण से अविद्या माया का क्रम चलता है। विद्या माया के कारण जीव का शरीरी होना अनिवार्य है। शरीरी होने पर जीव जब अपने को ब्रह्म से पृथक समझने लगता है तब अविद्या माया का आविर्भाव होता है। इस से बचने के तीन उपाय हैं—

१. ज्ञान, २. वैराग्य और ३. भक्ति। योग से ज्ञान की, धर्म से वैराग्य की और सत्संग से भक्ति की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का फल है मुक्ति, वैराग्य का फल है भगवत्चरणों मे अनुराग और भक्ति का फल है भगवत्-प्राप्ति। यह ज्ञान अथवा वैराग्य की अपेक्षा अधिक

शीघ्र फलदायक है, प्रारम्भ से ही सुख-मूल और सुगम है तथा सर्वतंत्र स्वतंत्र पथ है। अतएव माया का बंधन तोड़ने और जीव तथा ईश्वर का सान्निध्य पाने के लिए यही श्रेष्ठतम है। तुलसीदास अपने इसी दृष्टिकोण के कारण भक्तिमार्गी थे। उन्होंने मोह दूर करने के लिए साधारण वैराग्य, भ्रम दूर करने के लिए ज्ञान और भवसागर पार करने के लिए भक्ति का सहारा लेकर अपनी उपासना में तीनों का सुन्दर समन्वय करके प्रत्येक मतवादी को सन्तुष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

एक विद्वान् का कहना है कि लोकनायक बनने के लिए ध्येय के अनुकूल ही उसका जीवन सच्चा और पवित्र होना चाहिए। लोक नायक तुलसीदास के जीवन और उनके ध्येय के सम्बन्ध में यह युक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। जिस महान् संकल्प से प्रेरित होकर उन्होंने धर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया उसकी पूर्ति के लिए वैसा ही साधना-सम्पन्न तपोमय जीवन भी उन्होंने व्यतीत किया। इसीलिए उनकी प्रत्येक पंक्ति से, प्रत्येक अक्षर से उनके सत्यनिष्ठ धार्मिक जीवन की दिव्य वाणी के उदात्त स्वर सुनाई देते हैं। उनके जीवन के अनुरूप ही उनका आदर्श है। उनके इष्टदेव उनके आदर्शानुकूल हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने आदर्श के अनुकूल ही अपना जीवन बना कर और अपने इष्टदेव का आश्रय लेकर अपने काव्य-प्रासाद का शिलान्यास किया है। वह आर्य संस्कृति और आर्य धर्म के पोषक, रक्षक और पुनरुत्थापक हैं। उन्होंने नैराश्य-निशा में अशान्त-उर्मि विलोड़ित जन-सिन्धु के मध्य लोक नायक राम का विराट जाज्वल्यमान प्रकाश-स्तम्भ खड़ा करके पदाक्रान्त और पथ-विचलित आर्य-संस्कृति के डाँवाडोल पोत को जल-मग्न होने से रक्षा की है।

तुलसीदास की विशेषता

तुलसीदास के मत की दूसरी विशेषता है बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर सामञ्जस्य। वह अपने काव्य में बुद्धिवादी भी हैं और

हृदयवादी भी, पर भक्त होने के कारण उनका बुद्धिवाद अपनी उस सीमा तक नहीं पहुँच सका है जिस सीमा पर पहुँच कर कबीर जैसे संत तार्किक हो गये हैं। उनके बुद्धिवाद में विचारों की सकीर्णता नहीं है। उन्होंने बुद्धिवाद का केवल उतना सहारा लिया है जितने से उन्हें अपनी भक्ति को पुष्ट एव चरितार्थ करने मे सहायता मिलती है। जीव का अन्तिम आदर्श है निर्गुण ब्रह्म और अन्तिम ध्येय है मुक्ति। (बुद्धिवाद के अनुसार) मुक्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति की व्यवस्था होनी चाहिए। पर हृदयवाद इसे स्वीकार नहीं करता। हृदयवाद के अनुसार जीव का चरम लक्ष्य है सहज स्नेह की चरितार्थता। वह पूर्णत्व की ओर आकृष्ट होकर या तो व्यष्टि अथवा स्वार्थ के मार्ग से परमार्थ प्राप्त करता है या समष्टि अथवा परार्थ के मार्ग से। कुछ जीव ऐसे भी हैं जो दोनों मार्गों मे सामञ्जस्य स्थापित करके सर्वतोमुखी सहज स्नेह को चरितार्थ करते हैं। वह आत्म-कल्याण को लोक-कल्याण का एक अंग मान कर अखिल लोक के कल्याण की चिन्ता करते हैं। ऐसे ही लोगों का सहज स्नेह विशेष प्रशंसनीय होता है। उनमें समवेदना होती है, सहानुभूति होती है। वे दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझते हैं और उसे दूर करने के लिए छटपटाते हैं। तुलसीदास का हृदयवाद इसी प्रकार का है। उनके 'स्वान्तः सुख' मे लोक-कल्याण की भावना है। वह 'पर उपकार वचन, मन, काया' को 'सन्त सहज सुभाव' समझते हैं। पर इसके साथ-साथ वह त्याग का—वैराग्य का—महत्त्व भी दिखाते चलते हैं। इस प्रकार जहाँ उन्होने एक ओर सर्वोत्कृष्ट हृदयवाद को विवेक के सुदृढ़ आसन पर प्रतिष्ठापित किया है वहाँ दूसरी ओर चरम सीमा तक पहुँचे हुए बुद्धिवाद को वैराग्य की अचल अटल नींव से हटने नहीं दिया। वास्तव मे उनके हृदयवाद का ऐश्वर्य-प्रासाद उनके बुद्धिवाद की नींव पर ही खड़ा है।

तुलसीदास के मत की तीसरी विशेषता है सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध निरूपण। जिस समय तुलसीदास का आविर्भाव हुआ उस

समय हिन्दू-धर्म आस्तिक, नास्तिक, निराकारवादी, साकारवादी, साधु मत वाले, लोक मत वाले, वाममार्गी, अलख लखने वाले, वेदपन्थी आदि विभिन्न मत-मतान्तरों के कारण अपनी प्रभुता खो चुका था और मृतप्राय हो रहा था। ऐसी दशा में वह चुप न बैठ सके। हिन्दू धर्म का ह्रास उनसे देखा न गया। इसलिए उन्होंने शुद्ध सनातन हिन्दू धर्म को—उस हिन्दू धर्म को जिसमें भारतीय संस्कृति और मानव धर्म का मेल है—विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच प्रतिष्ठापित किया। सनातन हिन्दू धर्म भारतीय संस्कृति के कारण हिन्दू राष्ट्रीयता का समर्थक है और मानव धर्म के सिद्धान्तों के कारण वह समय के आघात सहकर भी चिर नवीन और अमर है। संसार के समक्ष उसकी महत्ता भारतीय संस्कृति के कारण नहीं, अपितु मानव धर्म के कारण है। यह मानव धर्म जितनी सुन्दरता और गहराई के साथ सनातन हिन्दू-धर्म में व्यक्त हुआ है वह देखने और समझने की वस्तु है। तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा, उदारता और लोककल्याण की प्रेरणा से इसे समझा और अपनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस सनातन हिन्दू धर्म में व्यावहारिक धर्म को भी समाविष्ट किया। उनके व्यावहारिक धर्म में पाखंड को स्थान न मिला। उनका मत था कि सभी जीव 'राममय' समझे जाकर समाज-पुरुष के आवश्यक और उपयोगी अंग माने जा सकते हैं। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण समाज का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना कि एक शूद्र। वर्णाश्रम धर्म के कट्टर पक्षपाती होने पर भी वह यही कहते रहे:—

स्वपच, सबर, खस, जमन, जड़, पाँवर, कोल, किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने व्यावहारिक धर्म में जन्मना और कर्मणा के सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय करके उस समय की विचारधारा का रूप ही बदल दिया। इसका फल यह हुआ कि जो हिन्दू जनता भ्रमवश व्यावहारिक धर्म के बाह्याचारों के पंक में फँसी हुई थी वह

'राम' का कीर्तन करके कृतकृत्य हो गई। प्रत्येक हिन्दू-घर एक देव-स्थान बन गया। कल्पित देव-मन्दिरों की घड़ी-घंटे की ध्वनि राम-नाम के कीर्तन में लुप्त हो गई। राम-नाम-कीर्तन युग-धर्म बन गया, लोक-धर्म हो गया। इस लोकधर्म में न केवल मानवधर्म और भारतीय संस्कृति का समन्वय हुआ, वरन् वह गीता से लेकर गांधीवाद तक के समस्त धर्म-प्रवर्तकों के सिद्धान्तों को अपने भीतर पचाने में समर्थ हो सका। तुलसीदास की समस्त रचनाएँ इतने दिनों बाद भी हिन्दू-हृदय को विशेष रूप से इसीलिए प्रभावित करती हैं।

तुलसीदास के मत की चौथी विशेषता है निष्काम कर्म की भावना। साकांक्ष कर्म एकदेशीय होता है। उसमें लोक-जीवन के कल्याण की भावना नहीं होती। तुलसी का मन लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। इसलिए वह कर्तव्य पालन पर बराबर ज़ोर देते चलते हैं। अज्ञात स्वर्ग के सुख की आशा से वह इतने प्रभावित नहीं हैं जितना अपने कर्तव्य से। कर्तव्य-परायण ही लोकनायक हो सकता है। अमुक कर्तव्य से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है अथवा नहीं, इसकी विवेचना करना लोकनायक के लिए रुचिकर नहीं होता। तुलसीदास ने इसीलिए स्वर्ग के लालच को कभी प्राधान्य नहीं दिया। अपने कर्तव्य-पालन की चिन्ता में उन्होंने स्वर्ग अथवा नरक की चिन्ता ही नहीं की। निष्काम कर्म उनके जीवन का ध्येय था; 'सब तज हरि भज' उनकी साधना का चरम आदर्श था। राम की सम्पूर्ण ज़ीवन-कथा में उन्होंने इसी आदर्श को प्रमुख रूप से प्रतिष्ठापित किया।

तुलसीदास के मत की पाँचवीं और अन्तिम विशेषता है सदाचार का उत्कर्ष। लोकहित के लिए उनकी कार्यपद्धति साम्यवादियों, समाजवादियों अथवा क्रान्तिकारियों की-सी नहीं है। वह अपने इष्टदेव की भांति शीलवान हैं। वह अपने विरोधियों का उतना ही सम्मान करते हैं जितना अपने सहयोगियों का। नास्तिक भी उन्हें उतने ही प्रिय हैं जितने आस्तिक। उनकी श्रुतिसम्मत भक्ति वही

है जिसका लक्षण शील है। शील से सदाचार की उत्पत्ति होती है। तुलसीदास ने अपने मत को सर्वग्राही बनाने की झोंक में सदाचार को कभी अपने हाथ से नहीं जाने दिया। इसीलिए उनका मत विरोधियों को शान्त करने में समर्थ हो सका। आज तुलसी का वही सदाचार, वही शील गाँधीवाद का भूषण बना हुआ है।

अब तक तुलसीदास के मत की जो छान-बीन की गई है उससे यह स्पष्ट है कि उनका धार्मिक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह केवल एक अनुभवी सन्त ही नहीं, संस्कृत के पूर्ण पण्डित और तत्वज्ञान के परम आचार्य थे। उन्होंने सब शास्त्रों का मन्थन करके जीव-ब्रह्म-माया, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य, पाप-पुण्य, कर्म-धर्म, स्वार्थ-परार्थ, परमार्थ आदि के परम तत्व लिखने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की। उन्होंने वैदिक साहित्य, निगम-साहित्य, तंत्र साहित्य (आगम साहित्य) और द्रष्टव्य साहित्य (पुराण) का गंभीर अध्ययन किया और अपनी भक्ति-भावना के अनुकूल उसका सार निकाल कर सिद्धान्त रूप से उसे अपने राम-काव्य में स्थान दिया। वह भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने भक्ति मार्ग के ज्ञान का अंश (तत्त्व का अंश) विशेषतः निगम साहित्य से, कर्म का अंश (अनुष्टान विधि, साधन क्रिया आदि का अंश) विशेषतः आगम साहित्य से तथा भाव का अंश (नाम-रूप-लीला-धाम सम्बन्धी अनुराग का अंश) विशेषतः पुराण साहित्य से लिया। इन तीनों अंशों के सुन्दर समन्वय से उन्होंने ऐसी साहित्य-त्रिवेणी प्रवाहित की जिसके भक्तिरूपी तीर्थराज के जल में तत्कालीन हिन्दू जनता निमग्न होकर अपनी आत्मा को पवित्र करने में समर्थ हो सकी। गोस्वामी जी ने इसीलिए अपने तत्त्व-सिद्धान्त को नाना पुराणनिगमागम-सम्मत कहा है।

तुलसीदास की बहुज्ञता

भारतीय संस्कृति में धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि धर्म्म में है। कोई नीति परमार्थ से पृथक नहीं

की जा सकती। जीवन के सभी व्यापार धर्म-द्वारा इस प्रकार संचालित हैं कि उनसे कहीं भी पृथकता नहीं दिखाई देता। राजनीति भी इसी-लिए धर्म का एक विशिष्ट अंग है। धर्म के ही अन्तर्गत उसका उदय और विकास है। गोस्वामी की राजनीति भी इसीलिए धार्मिक भावनाओं से प्रभावित है। उनकी राजनीति लोकधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। रामायण की सारी कथा उत्कृष्ट राजनीतिक गति-विधि का उदाहरण है। उसमें तत्कालीन जनता की पराधीनता का, पारस्परिक कलह और विरोध का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। उसमें यह भी दिखाया गया है कि देश में लोग महाभारत की रीति का अनुगमन करने लगे हैं और बाहरी वैरी पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ-से हो रहे हैं। ऐसे वातावरण में उन्होंने 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' की आवाज उठाई और सब का ध्यान अपने देश को स्वतंत्र बनाने की ओर आकृष्ट कर दिया। उनका राजधर्म वह राजधर्म था जिसमें अहिंसा, क्षमा, भक्ति, वैराग्य, सभी सद्गुणों का समावेश था। स्वराज, सुराज, राम-राज राजधर्म की यही तीन विशेषताएँ हैं। उनके राजधर्म-निरूपण में राजतंत्र और प्रजातंत्र का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। इन विशेप-ताओं के साथ राजा, प्रजा, मंत्री, दूत, सेवक आदि के कर्तव्यों का विधान भी राजधर्म में किया गया है। पर यह राजनीति, रामराज की यह व्यवस्था भक्ति के प्रवाह में इतनी पिछड़ गई है कि उसके प्रचार की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। वस्तुतः रामचरित मानस एक भक्ति काव्य है। कोरी भक्ति की दृष्टि से हिन्दू जनता पर उसका अमिट प्रभाव पड़ा, पर व्यक्ति के भीतर मर्यादा-पुरुषोत्तम के विकास का अवसर काल के प्रभाव से नहीं मिला। मानस के पाठ से उदारता फैली, भक्ति भाव बढ़ा, काव्य का लोकोत्तर आनन्द मिला, साम्प्रदायिकता घटी, पर भारत का भीतरी कलह न मिट सका। इस दृष्टि से मानस के प्रचार की आवश्यकता अब भी बनी हुई है।

राजनीतिक ज्ञान की भाँति गोस्वामी जी का सामाजिक ज्ञान भी

बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह निगमागम की पद्धति के कट्टर समर्थक थे। साम्प्रदायिकता के बड़े विरोधी थे और समाज में एक पत्नी-व्रत को महत्त्व देते थे। उन्होंने श्रम और सेवा का इतना अधिक महत्त्व दिखाया कि भगवती सीता भी 'निज कर गृह परिचर्य्या करहीं।' इधर सीता जी का यह हाल है उधर मर्य्यादा-पुरुषोत्तम नीच से नीच निषाद को 'जासु छाँह छुइ लेइय सींचा' गले लगाते हैं। बिगड़ा हुआ समाज ऐसे ही आदर्श-चरित्रों का योग पाकर उन्नत होता है। गोस्वामी जी ने एक दो नहीं, सामाजिक जीवन की ऐसी अनेक परिस्थितियों का चित्रण किया है जिसमे ऊँच-नीच का, बड़े-छोटे का भेद नहीं है। राजा-प्रजा सब एक से हैं। मानवता की पवित्र भूमि पर न कोई राजा है और न कोई रंक। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एक वर्ण वाला दूसरे वर्ण का धर्म पालन करने लगे। तुलसीदास इसी को समाज के, विशेषतः हिन्दू समाज के, ह्रास का कारण समझते हैं। समाज को दृढ़ बनाने के लिए वह चाहते हैं:—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म-निरत स्त्रुति नीती॥

इस आदर्श के अनुकूल समाज की व्यवस्था वही कर सकता है जिसे हिन्दू समाज की विभिन्न परिस्थितियो का ज्ञान हो। गोस्वामी जी अपने जीवन काल मे निम्नातिनिम्न और उच्चातिउच्च श्रेणियों के सम्पर्क में आ चुके थे। इसलिए वह अपने समाज की नस को, उसकी आशा और निराशा को, उसकी सफलता और विफलता को, उसके रुदन और हास्य को अच्छी तरह जानते थे। अपने इसी सामाजिक ज्ञान के कारण उन्हें अपना आदर्श चरितार्थ करने मे सहायता मिली।

सामाजिक जीवन के आदर्श के साथ-साथ गोस्वामी जी ने पारिवारिक जीवन का आदर्श भी अत्यन्त ऊँचा स्थापित किया है। भगवान् राम का परिवार एक आदर्श हिन्दू-परिवार है। इस परिवार मे पिता, गुरु, पुत्र, माता, वधू, दास, दासी, भाई, बहन सब अपने-अपने स्थान पर सन्तुष्ट हैं और अपने परिवार, अपने समाज और

अपने राष्ट्र के कल्याण में मन, वचन और शरीर से लगे हुए हैं, सभी कर्तव्यशील हैं। उदासीनता, शिथिलता, निष्क्रियता, छल, कपट, मिथ्या अभिमान, स्वार्थ-साधन-प्रवृत्ति आदि अवगुण ही पारिवारिक जीवन के सुखमय वातावरण को दूषित कर देते हैं। पर राम अपने आदर्श चरित्र से अपने परिवार के किसी व्यक्ति में इन अवगुणों में से किसी एक को भी आने का अवसर नहीं देते। राम अपने परिवार के सफल नायक हैं, इसीलिए वह लोकनायक होने में भी सफल हैं। जो अपने परिवार को सुव्यवस्थित नहीं कर सकता, वह सफल लोकनायक भी नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से तुलसी ने अपनी सामञ्जस्य-बुद्धि से परिवार का आदर्श हिन्दू जनता के सामने उपस्थित किया है और उन्हें इस कार्य में इसलिए सफलता मिली है कि वह हिन्दू परिवार की परिस्थितियों को, उसकी दुर्बलताओं को, उसकी बारीकियों को भलीभाँति समझते हैं।

तुलसीदास का लोकरीति-सम्बन्धी ज्ञान भी अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने अपने आदर्श स्थापन के आवेश में लोक-रीतियों की कहीं भी उपेक्षा नहीं की है। हिन्दू समाज की जो मान्यताएँ हैं उनका ध्यान रखकर उन्होंने अपनी राम-कथा को सजाया और सँवारा है। जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, तथा इसी प्रकार के हिन्दू-समाज में प्रचलित अन्य धार्मिक संस्कारों के अवसर पर जिन रीतियों का परम्परा-गत पालन होता है, तुलसी के राम काव्य में वे सब अपने अपने स्थान पर पाई जाती हैं। इन संस्कारों के अतिरिक्त व्रत और त्यौहारों का भी बड़ी सुन्दरता से राम-कथा में विधान किया गया है। स्त्रियों के सामान्य विश्वास, उनकी मनौतियाँ, गौरी-गणेश का पूजन, शुभ अवसरों पर उनके गीत, आदि सभी बातों पर तुलसी की दृष्टि समान रूप से गई है और उन्होंने सब को अपने आदर्शानुकूल स्थान देकर हिन्दू-जनता के विश्वासों की रक्षा की है।

तुलसीदास को पौराणिक कथाओं का भी बहुत अच्छा ज्ञान है।

पौराणिक कथाएँ हमारे इतिहास की परम्परा है, हमारी सभ्यता की अटूट शृंखलाएँ हैं। तुलसीदास ने इसी दृष्टि से अपनी राम-कथा में पौराणिक कथाओं का समावेश किया है। ऐसा करने में उनके दो उद्देश्य दृष्टिगोचर होते हैं। उनका पहला उद्देश्य है अपने कथन को पौराणिक कथाओं की साक्षी देकर पुष्ट करना और उनका दूसरा उद्देश्य है इन कथाओं-द्वारा अपनी भक्ति को सबल बनाना। उन्हें अपने इन दोनो उद्देश्य में पूरी सफलता मिली है। अपने इन दोनों उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने कथाओं का चयन बड़ी दूरदर्शिता से किया है। उनकी राम-कथा में लगभग ६० पौराणिक कथाओं का संकलन है। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने प्रत्येक पुराण का अनुशीलन गंभीरतापूर्वक किया था।

तुलसीदास का भौगोलिक ज्ञान भी उनके ऐतिहासिक ज्ञान की भाँति अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने भारत के कतिपय तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और वहां की भौगोलिक परस्थितियों से वह भलीभाति परिचित थे। काशी, अयोध्या, चित्रकूट, नैमिपारण्य, व्रजमण्डल आदि तीर्थ स्थानों के अतिरिक्त उन्हें अन्य तीर्थ स्थानों की भौगोलिक परिस्थितियों एवं धार्मिक महत्त्व का भी ज्ञान था। राम की वन-यात्रा का वर्णन उन्होंने एक भूगोल-विशारद की भांति ही किया है। वह दक्षिण में कभी नहीं गये, पर वहां की नदियों, पर्वतों तथा अन्य भौगोलिक परिस्थितियों का चित्रण उनके अध्ययन की गंभीरता को चरितार्थ करता है। असगत वर्णन उनकी रचनाओं में कहीं नहीं पाये जाते। राम के जीवन से जिन-जिन स्थानों का सम्बन्ध रहा है उन्हीं का चित्रण उनकी रचनाओं में पाया जाता है।

इन विषयों के अतिरिक्त तुलसी को ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान है। उनकी रचना, रामाज्ञा प्रश्न, उनके ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है। जनता के सामान्य एवं परम्परागत विश्वासों के अनुसार वह शकुन, मुहूर्त्त, आदि को भी अवसर के अनुकूल स्थान देते

है। छींक होना, आंख फड़कना, अंग फड़कना आदि के फलाफल का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान है। ज्योतिष की भांति वैद्यक में भी वह परिचित हैं। वह वैद्य नहीं हैं, पर रोगों के कारण और उनके प्रभाव की भली-भांति जानकारी रखते हैं। उनमें पर्यवेक्षण की अद्भुत शक्ति है, उनकी स्मरण शक्ति बहुत तीव्र है, इसलिए वह जो कुछ देखते हैं, जो कुछ अध्ययन करते हैं उसे शीघ्र अपना लेते हैं।

गोस्वामी का साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान भी अत्यन्त परिपुष्ट और सबल है। मानस के बालकाण्ड में वह एक स्थान पर लिखते हैं :—

आखर अरथ अलंकृत नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥

अक्षरविज्ञान, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन, अलंकारों की बाढ़, छन्दों की विभिन्नता, खण्ड काव्य और महाकाव्य में प्रबन्ध काव्य का विभाजन, भाव का विभाव, अनुभाव, संचारी भावों में विभेद, रसों का वर्गीकरण, कविता के श्लेष, प्रसाद, समता इत्यादि दस गुण तथा ग्राम्य अश्लील इत्यादि दोष, इन बातों का पूर्ण पाण्डित्य गोस्वामी जी में न हो, किन्तु उनका परिचय लक्षण-ग्रन्थों से अवश्य था। संस्कृत साहित्य और भाषा के वह पंडित थे। केशव की भांति उन्होंने अपने पांडित्य-प्रदर्शन की चेष्टा कभी नहीं की। साहित्य और जीवन का जैसा सुन्दर समन्वय उन्होंने किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी प्रत्येक दृष्टि से कवि होने में समर्थ हैं। उनके जैसा अध्ययन अन्य कवियों में नहीं पाया जाता। अपनी सारग्रहणी प्रवृत्ति के बल पर उन्होंने काव्योचित जीवन को सार्थक बनाया। धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य, संगीत, ज्योतिष आदि सभी विषयों पर उनका गंभीर और व्यापक अध्ययन था। मनोविज्ञान के तो वह पंडित थे।

तुलसीदास हिन्दी के महाकवि हैं। जिस आदर्श को लेकर उन्होंने

हिन्दी साहित्य के पुनीत प्रांगण में प्रवेश किया है उसमें मानवता का महान सन्देश है। इसीलिए उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कविता करके तुलसी ने अपना गौरव नहीं बढ़ाया, वरन् हिन्दी काव्य को, विश्व-काव्य को गौरवान्वित किया। तुलसी का कवित्व तुलसीमत के चरणों पर नतमस्तक है। जिस मत की ऐसी महिमा है उसकी असाधारणता के विषय मे जो कुछ भी कहा जाय थोड़ा ही है। वास्तव में लोक-कल्याणकारिणी हरि-चर्चा को ही गोस्वामी जी ने अपने काव्य का प्रकृत उद्देश्य माना है और आजीवन इसी की साधना में रत रह कर उन्होंने अपने को सरस्वती का वर पुत्र सिद्ध कर दिया है।

तुलसीदास की कविता

गोस्वामी जी हिन्दी के भक्त कवि हैं। राम का पवित्र जीवन उनके काव्य का विषय है। उन्होंने अपनी समस्त रचनाओ मे राम के जीवन की सुन्दर और आकर्षक झाँकियाँ ही उपस्थित की हैं। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक। रामचरित मानस उनका प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से उसका स्थान सर्वोच्च है। उसमें दो प्रकार की कथाओं का समन्वय हुआ है—प्रमुख और गौण। राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसमे पौराणिक कथाओं का सन्निवेश बड़ी कुशलता से किया गया है। किस प्रसंग को कब और कहां लाना चाहिए यह गोस्वामी जी को भलीभांति मालूम था। कथा को कहा किस प्रकार बढ़ाना और किस प्रकार घटाना चाहिए, कहाँ वर्णनात्मक क्रम रखना चाहिए और कहाँ नई घटनाओं की योजना करनी चाहिए, इन सब बातो का उन्हे पर्याप्त ज्ञान था। यही कारण है कि मानस के कथा-प्रवाह मे कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई है। अपने कथा-वर्णन में वह कोई बात एक बारगी नहीं कह देते। उत्तरगामी प्रसंगों की पूर्ववर्ती प्रसंगो से स्वाभाविक निःसृति उनके कथा-वर्णन की विशेषता है। इस विशेषता के कारण अनावश्यक अथवा असमर्थ प्रसंग प्रबन्ध के

घटना-विन्यास में स्थान नहीं पा सके हैं। इसके अतिरिक्त उनके मानस मे अद्भुत तत्व—रोमास-की इतनी प्रचुरता है कि वह निरर्थकता अथवा अति विस्तार को भी सार्थक, रुचिकर और कुतूहलवर्धक बना देता है उन्होंने प्रत्येक घटना-चक्र का विधान इस प्रकार किया है कि वह अपने में सम्पूर्ण तो है ही, सम्पूर्ण प्रबन्ध-कल्पना को सार्थक बनाने में सफल है। इस प्रकार उनका 'मानस' कई खंड-काव्यों का एक संग्रह भी है और एक महाकाव्य भी है जिस में क्लासिकल और रोमैंटिक साहित्य का अद्भुत समन्वय है।

प्रबन्ध-पटुता का एक दूसरा प्रमाण 'मानस' के संवादों मे मिलता है। संवाद अथवा कथोपकथन किसी भी कथा के आवश्यक अंग होते हैं और कथा को सजीवता, चलतापन प्रदान करने तथा पाठक के कुतूहल को बढ़ाने और उसे अधिक अनुरंजित करने में सहायक होते हैं। इसके लिए संवादों मे चुस्ती, विदग्धता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, शिष्टता, नाटकीय छटा आदि गुण अपेक्षित हैं। गोस्वामी जी के कथोपकथनों में इन समस्त गुणों का सन्निवेश बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। पात्रों और अवसर को देख कर उनके अनुसार ही वार्तालाप कराने मे वह दक्ष हैं। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, मन्थरा-कैकेयी संवाद, कैकेयी-दशरथ-संवाद, रावण-अंगद-संवाद आदि संवादों मे उनकी नाटकीय छटा देखने योग्य है।

चरित्र-चित्रण मे भी गोस्वामी जी ने कमाल ही किया है। सात्त्विक, राजस, और तामस् इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम उनकी रचनाओं में पाते हैं: आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण मे सात्त्विक और तामस का सन्निवेश हुआ है और सामान्य चित्रण मे राजस् का। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श-चित्रण के भीतर आते हैं, और दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। इस विभाजन के अतिरिक्त जीव कोटियों की दृष्टि से

यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि तुलसी ने देव, मनुज, तथा पशु-पक्षियों की आन्तरिक चेष्टाओं की झाँकी भी प्रस्तुत की है। इन चरित्रों के अध्ययन से उनकी मनोविज्ञान-सम्बन्धी पहुँच का पता लग जाता है। तुलसी मनःपरिस्थितियों के सम्यक् चित्रण प्रस्तुत करने में बड़े दक्ष हैं। साधु-असाधु, सज्जन-दुर्जन, देव-अदेव के अन्तःकरण में घुस कर उन्होंने जो मानस-चित्र उतारे हैं उनमें विश्व के हृदय का इतिहास भरा पड़ा है। उन्होंने सृष्टि के दुष्ट स्वरूपों का वैसा ही सूक्ष्म चित्रण किया है जैसा कि साधु स्वरूपों का। एक बड़े कवि के लिए अभिव्यक्ति की दोनों विभूतियाँ अपेक्षित हैं, अन्यथा काव्य में वह तेज नहीं आ सकता। दुष्ट पात्रों के सहारे साधु पात्रों का उत्कर्ष बढ़ता है। बूट जितने काले होंगे, गोरा पैर उतना ही अधिक चमकेगा। इसलिए रामत्व का उत्कर्ष रावणत्व के बिना हो ही नहीं सकता। रावणत्व की भी पूर्णता जितनी अधिक चित्रित की जायगी उतना ही अधिक रामत्व प्रकाश में आयेगा। तुलसी ने अपने साधु-असाधु पात्रों के चरित्र-चित्रण में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा है और इसीलिए वह अपने उद्देश्य में—राम के लोकनायकत्व को चरितार्थ करने में—पूर्णतया सफल हुए हैं।

तुलसीदास का 'मानस' वर्णनात्मक काव्य है। वर्णनात्मक काव्य में जीवन के मार्मिक स्थलों का चित्रण अत्यन्त अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से 'मानस' में गोस्वामी जी ने राम के जीवन के अनेक मार्मिक स्थलों का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक किया है। राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, और भरत की प्रतीक्षा, राम कथा के इन मार्मिक स्थलों का चित्रण गोस्वामी जी की प्रतिभा और भावुकता का परिचायक है। उन्होंने अपनी सहज भावुकता के बल से इन मर्मस्पर्शी स्थलों का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है कि उसका अनुभव करके, उसे

देखकर हृदय की समस्त कलुषित कामनाएँ मिट जाती हैं। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं उतना अधिक अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डाल कर उसके भाव का अनुभव किया है। उनके भावों में जो तीव्रता है, जो चुटीलापन है, जो स्पन्दन और तिलमिलाहट है वह केवल उनकी इसी पैठ के कारण। इसलिए उनकी अनुभूतियों को, उनके राग-विराग को, उनके हास्य और रुदन को हम अपनी अनुभूति, अपना राग-विराग, और अपना हास्य-रुदन समझते हैं और ऐसा समझ कर हम उनके साथ, उनके इष्टदेव के साथ, उनके आदर्शों एवं उद्देश्यों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, उनको, उनके राम को, और अपने हृदय को—तीनों को—एक साथ साहित्य की त्रिवेणी के पुनीत भक्ति-जल में गोता लगाते हुए पाते हैं।

मर्मस्पर्शी स्थलों के वर्णन के साथ-साथ तुलसी के बाह्य दृश्य-चित्रण भी बड़े अनूठे हुए हैं। उन्होंने प्रबन्धगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील-स्वरूप का, उसके अंतस की प्रवृत्तियों का आलेखन किया है, उसी प्रकार उसके अंगसौष्ठव को भी प्रत्यक्ष किया है। इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण में उनका प्रकृति-वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका प्राकृतिक वर्णन मनोरम होते हुए भी यथार्थ है। उसमें चित्रकारिता, कविता, तथा प्रकृति-विज्ञान का लोकोत्तर चमत्कार है। वह स्वाभाविक है और प्रसाद तथा माधुर्य गुण से ओत-प्रोत है। उसमें प्रतिभा तथा तथ्य का अभूतपूर्व तदात्म्य है। पर अपने कथांश को भुला कर उन्होंने प्रकृति का चित्रण नहीं किया है। उनके प्रकृति-चित्र प्रसंगानुकूल हैं। प्रकृति-चित्रण में उनके दो उद्देश्य हैं। उनका पहला उद्देश्य है प्रकृति के नीरव स्पन्दन को मनुष्य के सम्मुख रखना। प्राकृतिक उत्सव के वर्णन में उन्होंने इसी आदर्श का पालन किया है। देखिए :—

झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिविध ताप हर त्रिविध बयारी॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥

गोस्वामी जी के इस प्रकार के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर शब्द-सौन्दर्य-प्रधान ही हुए हैं जिसमे वस्तुओं का परिगणन मात्र है। पर उन्होने अपनी मौलिकता से, अपनी भावुकता से, अपनी पर्यवेक्षण शक्ति से उसमें सहज सौन्दर्य का विधान किया है। उनकी रचनाओं में अलंकारिक प्राकृतिक वर्णन भी मिलते हैं। दृष्टान्त आदि के साथ वस्तुओं और व्यापारो का सन्निवेश किया है पर देश और समय के अनुसार। केशव की भाँति प्रकृति-चित्रण मे पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा उनमे नहीं है।

प्रकृति-चित्रण में गोस्वामी जी का दूसरा उद्देश्य है प्रकृति के प्रगाढ़ वैराग्य की मनुष्य की लालसा और ललक से तुलना करना। संताप एव हर्ष के चित्रण मे उन्होंने इसी आदर्श का पालन किया है। 'मानस' मे ऐसे प्रकरण कम हैं जहाँ प्रकृति मनुष्य के हर्ष मे हर्ष मनाती है और शोक मे शोकित होती है। इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णन काव्य के प्राण होते हैं। उनमे जीवन की रुचिर आभा छिटकी हुई होती है। पर उनसे कविता के यथार्थ ध्येय को धक्का भी लगता है। तुलसी ने इसीलिए उनसे बचने की चेष्टा की है। 'मानस' के समुद्र-बन्धन मे पात्रों का प्राकृतिक शक्तियों के साथ जो प्रातीप्य दिखाया गया है उसमे अभिव्यंजना नहीं, केवल एक संकेत है। इसलिए हम कह सकते हैं कि तुलसी का प्रकृति-वर्णन अधिकाश वस्तुनिष्ठ है।

भिन्न-भिन्न व्यापारों मे तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी रूप-प्रत्यक्षीकरण मे अत्यन्त प्रयोजनीय है। गोस्वामी जी अपने इस कार्य में बेजोड़ हैं। उन्होंने मनुष्य की स्वाभाविक मुद्राओ का चित्रण बड़ी कुशलता से किया है। आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचन्द्र का चित्र इन पंक्तियों मे देखिए :—

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन वसति सो मृदु मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे॥

इस प्रकार की मुद्राओं से मानस भरा पड़ा है। ऐसी मुद्राओं के चित्रण मे तुलसी को विशेष सफलता मिली है। उन्होंने जिस मुद्रा का चित्रण किया है उसका चित्र सामने खींच दिया है। इस दृष्टि से उनके शाब्दिक चित्र अत्यन्त सुन्दर हुए हैं। कुरुचिपूर्ण दृश्यों का चित्रण उनकी रचनाओं मे नहीं है। सुरुचिपूर्ण चित्रण मे भी उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। जायसी की भाँति अपने दृश्य-चित्रों को अनावश्यक विस्तार देना उनका लक्ष्य नहीं है। अनावश्यक दृश्य-चित्रों की ठूँस-ठाँस भी उनकी रचनाओं में नहीं है। काव्य मे उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जिनका काव्य-विषय से सम्बन्ध हो और वह भी प्रसंग के संकोच अथवा विस्तार के अनुकूल। तुलसी ने अपने दृश्य-चित्रों म इस बात का पूरा ध्यान रखा है।

गोस्वामी जी के भाव जिस उत्तमता से अभिव्यक्त हुए हैं उस पर तो जितना कहा जाय कम है। वह भाव-लोक के राजा हैं। थोड़े से शब्दों में बहुत से भावों को भर देना उनके बायें हाथ का खेल है। कहीं-कहीं तो उनका एक-एक छन्द सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर हो गया है। वह अपने भाव-अभिव्यंजन में अधिक कल्पनाशील नहीं हैं। पंचतत्व-निर्मित संसार को ही उन्होंने अपनाया है और उसमे विचरने वाले मानव हृदय के गीत ही उन्होंने गाये हैं। पर ऐसा करने में उन्होंने अपनी कथा-वस्तु पर सदैव ध्यान रखा है। विनय, दैन्य, आत्म-समर्पण, शील, आत्मग्लानि, क्रोध, उत्साह, घृणा, राग, विराग आदि से सम्बन्ध रखने वाले भावों की उनकी रचनाओं मे प्रचुरता होने पर भी कथानक के प्रवाह मे बाधा उपस्थित नहीं होने पाई है। उनकी कृतियों में रसात्मकता का उफान नहीं है, उनकी गहरी से गहरी भावना में विस्फोट नहीं है। उनकी भाव-व्यंजना संयत और काव्योचित सीमा

के भीतर है। वह अवसर के अनुसार हँसाते और रुलाते हैं। यही ऊँची कला का लक्षण है।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में सभी रसों का विधान बड़ी सफलतापूर्वक किया है। वह रससिद्ध कवीश्वर थे। उनका सम्पूर्ण मानस एक ऐसे दिव्य रस से भरा हुआ है जिसके विषय में वह स्वयं कहते हैं।

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष तिन्ह जाना नाहीं॥

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी की कृतियों की प्रत्येक पंक्ति में कुछ-न-कुछ रस-चमत्कार विद्यमान है। सामान्यतः नीरस प्रतीत होने वाली पंक्ति में भी कथा-प्रसंग का वह प्रवाह मिलेगा जिसमें रस-तरंगें आप ही आप उछल रही होंगी। फुलवारी लीला में शृंगार रस का जैसा शिष्ट, सभ्य, मर्यादापूर्ण और हृदयग्राही परिपाक हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नारद-मोह, शिव-विवाह, सूर्पणखा-प्रस्ताव आदि के प्रसंगों में बहुत ही उच्चकोटि का हास्य भरा हुआ है। राम वन-गमन तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने के अवसर पर करुणा रस मूर्तिमान होकर बह निकला है। राम के ब्रह्मत्व और मनुष्यत्व के आलेखन में अद्भुत रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है। राम रावण युद्ध वर्णन में रौद्र, भयानक, वीभत्स तथा वीर रस का आयोजन बड़ी सफलता से किया है। वियोग-शृंगार की झाँकी सीता-हरण के उपरान्त देखी जा सकती है। शान्त रस की अनुपम माधुरी से तो उनकी समस्त रचनाएँ भरी पड़ी हैं। वात्सल्य रस का विधान राम के शैशव काल में किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी अपनी रस-योजना में भी सफल हैं।

गोस्वामी की रचनाओं में अलंकार-विधान भी परम मनोरम बन पड़ा है। उनकी अलंकार-योजना १. भावों की उत्कर्ष व्यंजना में २. वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में ३. गुण का अनुभव तीव्र करने में और ४. क्रिया का अनुभव तीव्र करने में विशेष रूप से सहायक हुई है। उनकी उपमाएँ बड़ी सुन्दर होती हैं। अपने रूपकों

में भी उन्होंने अपनी उपमाओं की विशेषता का ध्यान रखा है। उनका उपमालंकार ही कहीं रूपक, कहीं उत्प्रेक्षा, और कहीं दृष्टान्त अलंकार बनकर बैठा है। उनके साङ्गोपाङ्ग रूपक एकदम बेजोड़ होते हैं। वर्ण्य विषय इन स्वाभाविक रीति में आये हुए अलंकारों से एकदम खिल उठता है। उनकी रचनाओं में अलंकार हाथ बाँधे चले आते हैं। केशव की भाँति उनकी अलंकार-योजना में प्रयास नहीं है। इसीलिए उनके अलंकार अर्थसिद्धि में बाधक न होकर सहायक होते हैं। अलंकारशास्त्र से परिचय न रखने वाले पाठक भी उनकी रचनाओं का आनन्द उठा सकते हैं। श्लेष, यमक, मुद्रा आदि के फेर में वह कभी नहीं पड़े, पर ओज, माधुर्य्य आदि का विधान करनेवाले वर्ण-विन्यास का आश्रय उन्होंने अवश्य लिया है। अनुप्रास के तो वह बड़े प्रेमी थे, पर अपने इस प्रेम में उन्होंने भद्दापन और अर्थन्यूनता नहीं आने दी। इस प्रकार उनकी अलंकार-योजना भी स्वाभाविक और श्लाघनीय है।

तुलसीदास मुख्यतः अवधी भाषा के कवि हैं। यह प्रायः वही भाषा है, जिसमें गोस्वामी जी के पूर्व जायसी ने पद्मावत लिखा था, पर दोनों में अन्तर है। यह अन्तर व्याकरण का नहीं, शैली का है। जायसी की अवधी जहां शुद्ध तद्भवमय है, वहा तुलसी की अवधी तत्समों तथा अर्ध तत्समों से भरी पड़ी है। तुलसी अपनी भाषा को गँवारू बताते हैं, पर वास्तव में वह अत्यधिक परिमार्जित भाषा है। उनकी भाषा विद्वानों की लिखी ग्रामीण भाषा है। उसमें संस्कृत काव्य का अनुकरण पर्याप्त रूप से है। उनकी अवधी में पूर्वी और पछाँहीं दोनों का मेल है। पार्वती मंगल, जानकी मंगल और रामलला-नहछू तीनों पूर्वी अवधी में लिखे गये हैं। अवधी पर उनका पूरा अधिकार है। इस भाषा में उन्होंने साहित्यिकता, परिमार्जन तथा मार्दव का सृजन बड़ी ही कुशलता से किया है।

तुलसी की भापा

अवधी की भाँति तुलसी ने ब्रजभाषा का भी उपयोग किया है

और बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उनकी रचनाओं में इस भाषा का सहज सौन्दर्य और माधुर्य देखने योग्य है। कवितावली, विनय पत्रिका तथा गीतावली तीनों की भाषा ब्रज है। कवितावली ब्रज की चलती भाषा का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ नहीं, खींचा-तानी नहीं।

गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं वीर गाथा काल की राजस्थानी-मिश्रित भाषा और भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी-प्रभावित भाषाओं का भी प्रयोग किया है। आवश्यकतानुसार उनकी भाषा में मुग़लकालीन जन-साधारण में व्यवहृत अरबी तथा फ़ारसी भाषाओं के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है। परन्तु उन्होंने उन शब्दों को हिन्दी के साँचे में ढाल लिया है। इस प्रकार के शब्द अंदेसा, खाना, गरीबनिवाज, गर्दन, जहाज, जहान, निसान, प्यादा, फौज इत्यादि हैं।

गोस्वामी जी की भाषा का सर्वप्रधान गुण साहित्यिकता है। उन्होंने अपनी भाषा को लोक-व्यवहार की भाषा का रूप दिया है। उसमें सरलता, बोधगम्यता, सौन्दर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज इत्यादि सभी गुणों का समावेश है। उनका एक भी शब्द उक्ति-चमत्कार अथवा वाक्य-वैदग्ध्य, तुकबन्दी अथवा मात्रापूर्ति के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। उनकी रचना में कुछ भी व्यर्थ नहीं है। उनका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर नगीने की तरह जमा बैठा है और अर्थ-गौरव की वृद्धि में सहायक है। उनका वाक्य-विन्यास प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है। जिस स्थान पर जैसी भाषा होनी चाहिए वैसी ही भाषा का उन्होंने प्रयोग किया है। उनकी भाषा भावानुरूपिणी है। इसीलिए उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं आनेवाली है। वह सदैव शिष्ट, संयत, और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करते हैं। अवसरानुकूल भाषा को कोमल या ओजपूर्ण बना देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। उनका शब्द-कोश इतना विशाल है जितना हिन्दी के किसी भी कवि का नहीं है। उन्होंने हज़ारों संस्कृत, प्राकृत, तथा विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अधिकारपूर्ण

प्रयोग किया है। थोड़े से शब्दों में गंभीर भाव भर देना उनके भाषा-पाण्डित्य की एक विशेषता है। प्रवाहपूर्ण भाषा लिखने में वह दक्ष हैं। सूर अवधी नहीं जानते थे, जायसी ब्रजभाषा से अपरिचित थे, पर तुलसी का दोनों पर समान अधिकार है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी उन्होंने बड़े कौशल से किया है।

तुलसी की शैली

जिस प्रकार गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं के लिए अपने समय की प्रचलित ब्रज और अवधी दोनों को अपनाया उसी प्रकार उन्होंने उस समय की सभी काव्य-शैलियों को अपना कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूर के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रीतिकारों के सवैया-कवित्त, रहीम का बरवै, गाँव वालों के सोहर आदि जितने प्रकार की छन्द-पद्धतियाँ उन दिनों लोक में प्रसिद्ध थीं सबको समानाधिकार से स्थान दिया और उन पर अपने व्यक्तित्व की, अपनी विद्वत्ता की, अपनी प्रतिभा की छाप लगा दी। इसीलिए तुलसी अपने प्रत्येक छन्द में बोलते हुए-से ज्ञात होते हैं। उनका कोई छन्द शिथिल नहीं है। विषय और भाव के अनुकूल छन्दों का विधान करने में वह बेजोड़ हैं। मानस में दोहा-चौपाई की शैली का अनुसरण किया गया है। यह शैली महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। विनय पत्रिका में फुटकर पद गीत की शैली में रचे गये हैं। मुक्तक काव्य तथा भजन के पदों में इस शैली के महत्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। कवितावली सवैया छन्दों में है। नीति तथा उपदेश के लिए दोहावली में दोहों की शैली को स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने राम के पुनीत जीवन को लोक-प्रिय बनाने के लिए प्रत्येक शैली का अनुसरण किया है और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन छन्दों में उनके विचार और सिद्धान्त भरे पड़े हैं। भाषा, भाव और छन्दों का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसीदास की रचनाओं के सम्बन्ध में इतना ज्ञान लेने के पश्चात् संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिए कि उनका सन्त कवियों से कहाँ मतभेद है।

तुलसी और सन्त कवि

यह तो बताया ही जा चुका है कि हमारे साहित्य में भगवान की प्रतिष्ठा दो रूपों में हुई है—निर्गुण और सगुण। भगवान का निर्गुण रूप तर्क की कसौटी पर कसा हुआ रूप है, ज्ञान मय रूप है, दार्शनिक रूप है। पर हम स्वभावतः तार्किक नहीं विश्वासी हैं। हम सत्य को कुरेद-कुरेद नहीं देखना चाहते। कुरेद-कुरेद कर देखने से सत्य का रूप क्षत-विक्षत हो जाता है। हम मिट्टी की जीवित प्रतिमाएँ अपने सत्य-स्वरूप को अपने ही जैसे रूप-रंगों में प्रत्यक्ष कर, अपनी अगणित चेतनाओं को उसमें पुञ्जीभूत कर देखना चाहते हैं। भगवान् का, उस चिर सत्य का, यही रूप सगुण रूप होता है। इस रूप में हमारा विश्वास जमता है। इस प्रकार जो ईश्वर दर्शन होता है वह जीवन को कल्याणमय बनाता है किन्तु जो लकीर पीटने के लिए ही ईश्वरवादी होते हैं और अलख अलख की आवाज लगाते हैं उनसे समाज में पापाचार ही फैलता है। तुलसीदास ने निर्गुण-वाद की इस दुर्बलता को पहचाना। इसलिए उन्होंने पार्थिव और अपार्थिव के बीच, नश्वर और अविनश्वर के बीच राम के लोकपावन स्वरूप की प्रतिष्ठा की। जनता के लिए भगवान का यह रूप अधिक फलदायक हुआ। उसके लिए कबीर के राम जो कार्य न कर सके वह तुलसी के राम ने कर दिया। कबीर प्रभृति सन्तों के राम ने गृहस्थ जीवन के संशोधन का नहीं उसके मूलोच्छेदन का उपाय किया। इस के विरुद्ध तुलसी के राम ने गृहस्थ जीवन का संशोधन किया। सन्त कवि वेदान्ती थे, तुलसी मनोवैज्ञानिक। तुलसी और सन्त कवियों का लक्ष्य एक था, पर उनकी साधना में अन्तर था। सन्त कवि व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे, तुलसी लोकधर्म के प्रवर्तक थे। सन्तों का लक्ष्य था ज्ञानमय और तुलसी का कर्ममय। तुलसी के हृदय में उन

ज्ञानयोगियों के लिए सम्मान था जिन्होंने बिना लौकिक माया में फँसे ही परमतत्व पा लिया था। इसीलिए उन्होंने अपने राम से कहलाया :—

ज्ञानी मोहिं विशेष पियारा।

किन्तु वह उस परम तत्व को ज्ञानियों तक ही सीमित न रख कर संसारी व्यक्तियों तक पहुँचाना चाहते थे। वह महाकवि थे। उनकी कला रुचि ने जीवन को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप में देखना नहीं पसन्द किया। महाश्मशान जीवन की पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद है। तुलसी ने जीवन के प्रारम्भिक परिच्छेदों को भी ललक कर देखा। सन्त कवियों की निगाह जीवन-पुस्तक के केवल अन्तिम परिच्छेद पर थी, तुलसी की समस्त जीवन-पुस्तक पर। वह ज्ञानी और कर्मयोगी दोनों एक साथ थे। उन्होंने विश्वासपूर्वक, तर्क-रहित होकर कर्म करने की, फल की चिन्ता न करने की शिक्षा दी। जनता ने उनकी इस शिक्षा को अपनाया, उनके इस स्वर में अपना स्वर मिला कर फलाफल की उपेक्षा की :—

मोहि सुधारहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥

तुलसी और कृष्ण-काव्य

तुलसीदास के आविर्भाव के पूर्व कृष्ण-काव्य का हिन्दू जनता में प्रचार हो चुका था। कृष्ण और राधा के लौकिक रूप ने जनता को विमोहित करके सन्त कवियों की रहस्यमयी बानी से उसका मन फेर दिया था, पर सौन्दर्य और प्रेम की अत्यन्त ऐन्द्रिकता के कारण अब उसका दुरुपयोग हो रहा था। विजातीय पराधीनता में जिस प्रकार हमारी संस्कृति संकुचित हो गई थी, उसी प्रकार हमारे गृहस्थों की मनोवृत्ति भी। खाना-पीना और मौज करना जीवन का यही रंगीन रूप शेष रह गया था। विदेशी शासन ने अपनी जिस कला की छाप हमारी कला पर डाली वह भी, ऐन्द्रिक थी। शृंगारी कवियों को इस

विदेशी कला से और भी प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला साधारण स्त्री-पुरुषों की प्रेम-लीला बन गई। तुलसी ने कृष्ण-काव्य के इस दुरुपयोग को देखा और इसी के साथ-साथ उन्होंने वेदान्तिक विफलता भी देखी। तुलसी के कवि-हृदय पर इन दोनों बातों का प्रभाव पड़ा। कृष्ण-काव्य में लोकधर्म के लिए स्थान नहीं था। इसलिए उन्होंने राम-काव्य द्वारा प्रभु के लोकसंग्रही रूप का दर्शन कराया। उन्होंने गृहस्थ जीवन की कदर्थना देखकर उसकी उपेक्षा नहीं की, बल्कि लोकसेवी और त्यागपरायण रूप में सीताराम को उपस्थित कर हमारे लौकिक जीवन का संस्कार किया। कृष्ण-काव्य में जीवन के एक पक्ष का चित्रण हुआ था। तुलसी ने अपने राम-काव्य में जीवन के सभी पक्षों का समावेश किया। इस प्रकार उनका राम काव्य कृष्ण-काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया। कृष्ण की सुन्दर मूर्ति देख कर इसीलिए उन्होंने कहा—

कहा कहूँ छबि आज की खूब बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुष बान लेहु हाथ॥

ब्रह्म के विष्णुत्व के कृष्ण और राम दो रूप थे। तुलसी दोनों रूपों पर आस्था रखनेवाले थे, पर जिस प्रकार के वातावरण में उनका जन्म हुआ था वह कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नहीं था। कृष्ण कर्मयोगी थे, कूटनीतिज्ञ थे, पर मर्य्यादावादी नहीं थे। तत्कालीन हिन्दू-जाति की जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए राम ही उपयुक्त थे। इसलिए तुलसी ने युगधर्म की आवश्यकता से प्रेरित होकर राम के जीवन का आदर्श हिन्दू-जनता के सामने उपस्थित किया।

तुलसीदास और सूरदास दोनों एक ही पथ के पथिक थे। दोनों का अनन्य ब्रह्म के विष्णुत्व में समान रूप से विश्वास था।

तुलसी और सूर

भागवत धर्म पर दोनों की आस्था थी। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति दोनों में नहीं थी। अपना मत प्रतिष्ठापित करना अथवा अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन

करना दोनों का ध्येय नहीं था; दोनों का आविर्भाव एक ही समय में, एक ही वातावरण में हुआ था, पर दोनों उपासना के क्षेत्र में एक दूसरे से भिन्न थे। तुलसी स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे; सूर वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा में। इसलिए तुलसी के इष्टदेव राम हैं और सूर के इष्टदेव कृष्ण। तुलसी साहित्य पर रामानन्द की विचार-धारा की अमिट छाप है तो सूर-साहित्य पर वल्लभ सम्प्रदाय की विचारधारा की। तुलसी के राम पुत्र, भाई, पति, भक्तवत्सल, योद्धा, लोकनायक और मर्य्यादा-रक्षक हैं। सूर के कृष्ण नवनीत-प्रिय बालक, चंचल किशोर, तरुण प्रेमी, प्रौढ़ मित्र, योद्धा और राजनीतिज्ञ हैं। इस प्रकार इष्टदेवों के चरित्रों में अन्तर होने के कारण सूर और तुलसी की उपासना पद्धति में भी अन्तर पड़ गया है। तुलसी ने अपने राम की सेव्य-सेवक भाव से भक्ति की है और सूर ने अपने कृष्ण की सखा भाव से। तुलसी अपने इष्टदेव के सामने इसीलिए विनम्र, दीन, मर्य्यादाशील और नतमस्तक हैं। उन्होंने अपने स्वामी के स्वामित्व की प्रत्येक अवसर पर रक्षा की है। एक सच्चे सेवक में जिन गुणों का होना आवश्यक है वह सब तुलसी में विद्यमान हैं। तुलसी अपने राम के सच्चे सेवक हैं। सूर अपने इष्ट देव के सामने उच्छृंखल, चपल, हास्य-विनोद-प्रिय, और आलोचक हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह उन्हें फटकारते हैं और पुचकारते भी हैं। एक सच्चे सखा में जिन गुणों का होना आवश्यक है वह सब सूर में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से तुलसी और सूर अपने-अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति-भावना में निष्कपट, उदार और संयत हैं। उन दोनों की भक्ति पर कोई उँगली नहीं उठा सकता, कोई बट्टा नहीं लगा सकता।

अब रही सूर और तुलसी के साहित्य की तुलना। इस क्षेत्र में सूर-साहित्य से प्रभावित होकर किसी ने सूर को बड़ा मान लिया और कह दिया—'सूर-सूर तुलसी ससी' और किसी ने तुलसी साहित्य से प्रभावित होकर तुलसी को बड़ा मान लिया और कह दिया कि तुलसी के सामने

सूर कुछ भी नहीं है। वास्तव में इस प्रकार की तुलना अपना कोई महत्त्व नहीं रखती। यदि दोनों के काव्य-क्षेत्र समान होते, दोनों की इष्ट-साधना समान होती, दोनों की विचारधारा पर एक ही इष्टदेव का प्रभाव होता तो दोनों की प्रतिभा और विकास का पता भी लगता, पर दोनों के दृष्टिकोणों में विभिन्नता होने के कारण इस प्रकार के निर्णय से काम नहीं चल सकता। वास्तव में सूर अपने स्थान पर सूर हैं। उनके क्षेत्र में आकर, उनकी विचार-धारा में पड़ कर कोई भी उनसे आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकता था। तुलसी यदि उनकी स्थिति में होते तो वह तुलसी न होकर सूर या उनसे घट बढ़ कर होते। ठीक यही दशा तुलसी के क्षेत्र में जाकर सूर की होती। कवि जिस क्षेत्र को अपनाता है उसी क्षेत्र में उसी क्षेत्र के अनुसार उसकी प्रतिभा का, उसके काव्य-गुणों का विकास होता है। तुलसी का क्षेत्र राम का लोकपावन सम्पूर्ण जीवन था। इस जीवन में परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन का समन्वय हो सकता था। वह प्रबन्ध-काव्य का विषय बन सकता था। तुलसी ने ऐसा ही किया। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से, अपनी भक्ति-भावना के अनुकूल मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के आदर्शों को अपने प्रबन्ध-काव्य में स्थान दिया और लोक-धर्म की व्यवस्था की। सूर के आलम्बन थे कृष्ण। कृष्ण का जीवन राम के जीवन की अपेक्षा विशाल अवश्य था, पर उसके द्वारा लोक-धर्म की स्थापना नहीं हो सकती थी। लोक-धर्म की स्थापना के लिए ऐसे आदर्श जीवन की आवश्यकता थी जो परिवार से लेकर समूचे राष्ट्र तक विस्तृत हो। कृष्ण का जीवन ऐसा जीवन नहीं था। इसके अतिरिक्त सूर अपनी भक्ति-भावना के दृष्टिकोण से भी बँधे हुए थे। सखा-भाव से कृष्ण की भक्ति करने के कारण उनकी दृष्टि कृष्ण के जीवन के केवल उन्हीं अंगों तक सीमित रही जिनसे उनका प्रयोजन सिद्ध हो सकता था। इसलिए वह उनकी बाल-लीलाओं और प्रेम-लीलाओं से आगे न बढ़ सके। तुलसी अपने राम

के सेवक थे। इसलिए वह उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके साथ रहे।

एक बात और है जिस पर विचार करना आवश्यक है। भागवत-कार और महाभारतकार दोनों ने कृष्ण को अलौकिक रूप में चित्रित किया है। इस प्रकार के चित्रण से अनेक सम्बन्धों से आबद्ध रहने पर भी वह सदैव उदासीन और अलिप्त ही दिखाई देते हैं। इसी कारण उनका चरित्र विविध रूप धारण करता हुआ भी अनेक लौकिक सम्बन्धों में विकसित नहीं हो पाया। इसके विरुद्ध वाल्मीकि के राम लौकिक थे। अतः उनके लौकिक जीवन के अनेक अंग विकसित हो गये। इस प्रकार राम की कथा चरित्र-प्रधान हो गई और कृष्ण की कथा लीला-प्रधान। तुलसी और सूर के काव्य-विषय में जो अन्तर दिखाई पड़ता है उसका यह भी एक प्रमुख कारण है।

तुलसी की रचनाओं में उनका व्यक्तित्व कई रूपों में हमारे सामने आता है। वह एक ही साथ भक्त, कवि, दार्शनिक, व्यवस्थापक, सुधारक, उपदेशक और धार्मिक नेता हैं। उन्होंने इन सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में बड़ी सफलतापूर्वक काम किया है। इस दृष्टि से उनका व्यक्तित्व अद्भुत और श्लाघनीय है। विषय के अनुरूप ही उनके व्यक्तित्व का प्रस्फुटन हुआ है और वह अपने व्यक्तित्व में बेजोड़ हैं। सूर अपने व्यक्तित्व में केवल भक्त, कवि और कुछ अंशों में दार्शनिक हैं। उनकी दार्शनिकता उनकी भक्ति के भार से दब-सी गई है। वह उभरने नहीं पाई। तुलसी में भी भक्ति का आवेश है, पर उनकी दार्शनिकता उससे दबी नहीं है। इसका कारण है उनकी लोकधर्म स्थापित करने की तीव्र आकांक्षा। उन्होंने अपने राम के लोक-संग्रही रूप को अपनाया है। इसीलिए वह व्यवस्थापक, उपदेशक सुधारक और धार्मिक नेता बनने में समर्थ हुए हैं। राम के लौकिक पक्ष की ही प्रधानता न रहे, इसलिए वह उनके अलौकिक रूप की याद भी दिलाते रहे हैं। सूर के सामने ऐसा कोई आदर्श नहीं है। यह

सूर का नहीं, उनकी कृष्ण-कथा का दोष है। सूर अपने दृष्टिकोण के कारण, अपनी भक्ति-भावना के कारण इस दोष का परिहार नहीं कर सके।

तुलसी ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों को स्थान दिया है। वात्सल्य, शृंगार, वीर, करुण, वीभत्स, रौद्र, हास्य, शान्त, भयानक, और अद्भुत रसों का परिपाक करने में वह समर्थ हुए हैं। यदि ऐसा न करते तो उनके महाकाव्य में महाकवित्व न आता, पर इन रसों का विधान एक निश्चित सीमा के भीतर हुआ है। अवसरानुकूल जैसी आवश्यकता पड़ी है उसी के अनुरूप ही रसों का आयोजन हुआ है। शृंगार के—संयोग और वियोग—दोनों पक्षों को उन्होंने लिया है, पर अपनी सीमा के भीतर रस-निरूपण की झोंक में वह बह नहीं गये हैं। सूर ने भी अपनी रचनाओं में रसों का आयोजन किया है। उन्होंने शान्त, वीर, हास्य, करुण, भयानक, अद्भुत, शृंगार और वात्सल्य रस के अच्छे चित्र उतारे हैं, पर उनका काव्य गीतिकाव्य है। गीति काव्यों में रस-निरूपण की पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है। इसीलिए उनकी रचनाओं में अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार और वात्सल्य की बड़ी सुन्दर योजना बन पड़ी है। बाल-स्वभाव का जैसा अनुभव उन्हें है वैसा तुलसी को नहीं है। वह माता के हृदय को भी पहचानते हैं। इसलिए वात्सल्य रस के निरूपण में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उन्होंने केवल कृष्ण के बाल-स्वभाव का ही नहीं, राधिका की बाल-केलि का भी वर्णन किया है। उनका सूरसागर बाल-लीलाओं के चित्रण से भरा पड़ा है। इसी प्रकार उनका शृंगार भी अद्वितीय है। राधिका के संयोग और वियोग के चित्र जैसे उन्होंने उतारे हैं अन्यत्र दुर्लभ हैं। तुलसी ऐसा नहीं कर सके हैं। सीता के संयोग और वियोग के चित्रण में उन्होंने बड़ी सावधानी से काम लिया है। वह अपने राम के सेवक हैं, सखा नहीं। सेवक के नाते जितना उनसे बन पड़ा है उतना ही उन्होंने

किया है। सूर अपने कृष्ण के सखा होने के नाते राधिका के रूप-सौन्दर्य का चित्रण जिस ढंग से करते हैं तुलसी अपने राम के दास होने के नाते सीता के रूप-सौन्दर्य का चित्रण उसी ढंग से नहीं कर सकते। सीता उनकी माता-तुल्य हैं। माता के रूप की नहीं, गुणों की प्रशंसा की जाती है। इसीलिए तुलसी सीता के रूप का आभास मात्र दिखा कर उसे पाठक की कल्पना शक्ति पर छोड़ देते हैं। वियोग-शृंगार के वर्णन में भी उनकी यही दृष्टि काम करती है।

सूर का काव्य गीतात्मक है। इसलिए उसमें वर्णनों को विशेष स्थान नहीं मिला, फिर भी वह उससे एक दम अछूता नहीं है। उन्होंने उत्सव, लीला, रूप और प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में उन्होंने चित्रोपमता, अलंकार-विधान और रस-सृष्टि पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उत्सव तथा लीलाओं के वर्णन में उनकी आत्माभिव्यक्ति और गीतात्मकता देखने योग्य है। रूप-वर्णन में उन्होंने या तो कूटों का प्रयोग किया है या उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का, जो साहित्यशास्त्र और कवि-परम्परा के अनुकूल है। उनका प्रकृति-वर्णन नायक-नायिकाओं के क्रिया-कलाप के साथ मिलकर सामने आता है। इसका कारण उनकी भक्ति-भावना है। तुलसी का काव्य मुख्यतः प्रबन्ध काव्य है। इसलिए उसमें वर्णनों को विशेष रूप से स्थान मिल सका है। उन्होंने रूप, उत्सव, नगर, प्रकृति, युद्ध आदि का वर्णन राम के देवत्व की प्रतिष्ठा, शीलमयता, नीति-स्थापन एवं अलंकार योजना के लिए ही किया है। प्रकृति के सुन्दर और स्वतन्त्र चित्रण उन्होंने अधिक नहीं किये हैं। उनका प्रकृति-चित्रण-वस्तुनिष्ठ अधिक है और अध्यात्म एवं ज्ञानोपदेश के बोझ से लदा हुआ है। उन्होंने शरद और वर्षा का वर्णन भागवत शैली पर किया है। इस प्रकार के वर्णनों में सूर और तुलसी दोनो ने रूपकों की अच्छी आयोजना की है और उपमाओं तथा उत्प्रेक्षा से खूब काम लिया है। सूर की अलंकार-योजना तुलसी की अलंकार-

योजना की अपेक्षा अधिक पुष्ट, सबल और स्वाभाविक है।

चरित्र-चित्रण के विचार से सूर और तुलसी दोनों अपनी पृथक सत्ता रखते हैं। सूर की रचनाओं में चरित्र-चित्रण को बहुत कम स्थान मिला है। इसका कारण उनके काव्य-विषय का संकोच है। तुलसी की रचनाओं में चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। इसका कारण उनके काव्य-विषय का विस्तार है। सूर अपने चरित्र-चित्रण में, अपने इष्टदेव के देवत्व को भूले हुए हैं, तुलसी दुष्ट और शिष्ट सब का चित्रण समान रूप से करते हैं और अपने इष्टदेव के देवत्व की पग-पग पर याद दिलाते चलते हैं।

भाषा के क्षेत्र में सूर की अपेक्षा तुलसी का अधिकार अधिक विस्तृत है। तुलसी का ब्रज और अवधी दोनों काव्य-भाषाओं पर समान अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य-रचना प्रचलित की उन सब में बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यह बात सूर में नहीं है। सूर की अपेक्षा तुलसी में पाण्डित्य की मात्रा अधिक है और वह छन्द-शास्त्र से भली-भाँति परिचित हैं। सूर छन्दशास्त्र के अच्छे ज्ञाता नहीं जान पड़ते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर और तुलसी अपने-अपने क्षेत्र में महान हैं। कविता दोनों की साधन मात्र है, साध्य नहीं। पर तुलसी हमारे सामने एक धर्मप्रवर्तक के रूप में आये और सूर भक्त के रूप में। दोनों अपने रूपों में सफल हैं।

तुलसी का हिन्दी साहित्य में स्थान

तुलसीदास हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि, भक्त, दार्शनिक और लोक-व्यवस्थापक हैं। उनकी रचनाओं में जीवन का जैसा व्यापक रूप चित्रित हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी अधिकारपूर्ण पहुँच है। मानव अन्तःकरण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का उनके जैसा सुन्दर और आकर्षक चित्रण हिन्दी के किसी भी कवि ने नहीं किया है। बाह्य जगत के नाना रूपों के

प्रत्यक्षीकरण में हमने उन्हें अप्रतिम पाया है। उनकी काव्य की बहिरंग-प्रणाली का भी परिचय हमें मिल चुका है। हम देखते हैं कि वह संस्कृत, अवधी तथा व्रज भाषा के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों और काव्यों का भली-भाँति अनुशीलन किया था। उनकी छन्द-योजना, रस-योजना और अलंकार-योजना उनकी प्रतिभा की परिचायक थी। उनकी प्रबन्ध-रचना अद्वितीय और उनका चरित्र-चित्रण असाधारण होता था। मार्मिक स्थलों का चयन, तथा अनावश्यक स्थलों की काट-छाँट में वह दक्ष थे। मानव स्वभाव में उनकी गहरी पहुँच थी। उदात्त वृत्तियों की सभी परिस्थितियों का उन्हें ज्ञान था। वह समय के प्रवर्त्तक, काव्य में युगांतरकारक, ज्ञान के संस्थापक और भक्ति के प्राण थे। उन्होंने भक्ति की मन्दाकिनी में नवीन प्रवाह उत्पन्न किया था। उनमें दैवी स्फुलिंगों का प्रकाश और दानवी वृत्तियों का नियंत्रण था। सज्जन और दुर्जन, देव और राक्षस, मनुष्य और पशु-सभी उनके काव्य-विषय थे और सब के प्रति वह विनम्र थे। उन्हें किसी से भी द्वेष नहीं था। अन्य सम्प्रदायों के प्रति उनका आदर भाव था। वर्णाश्रम धर्म तथा क्षात्र धर्म के वह पूर्ण समर्थक थे। मानवता की वह साकार प्रतिमा थे, ऊँच-नीच का भेद-भाव उनमें नहीं था। वह स्वयं वैरागी थे, पर गृहस्थों को उन्होंने वैरागी बनाने की चेष्टा नहीं की। वह गृहस्थों के साधु और साधुओं के गृहस्थ थे। वह आशावादी और भाग्यवादी भी थे, पर आशा और भाग्य के भरोसे वह कभी नहीं रहे। कर्तव्यपरायणता उनके जीवन का लक्ष्य था। फलाफल के पचड़े में वह कभी नहीं पड़े। परिवार, समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए उन्होंने भगवान राम के पावन जीवन को काव्य का विषय बनाकर हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्ति का संघटन किया और उनको सेवा, त्याग, सहृदयता, शीलता और उदारता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने चरित्र-बल से, अपने ज्ञान-बल से, अपने धर्म-बल से मानव-हृदय की दूषित मनोवृत्तियों का संस्कार किया और भारत के इतिहास

में प्रथम बार हिन्दू-राष्ट्र का ढाँचा खड़ा किया। इस प्रकार वह प्राचीनों के सामने नवीन और नवीनों के सामने प्राचीन थे। वह एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक थे। उनकी काव्य प्रतिभा अद्वितीय थी। उनकी वाणी में जादू था, उनका यही जादू समस्त हिन्दू जाति के लिए वेद मंत्र बन गया।

गोस्वामी जी वास्तव में भारतीय संस्कृति की कीर्ति हैं। वह सच्चे साधु, निश्छल भक्त, गुरु शिक्षक और शान्त सुधारक हैं। वह अपनी रचनाओं में अपने इष्टदेव के प्रति, अपने समाज और राष्ट्र के प्रति ईमानदार हैं। उनकी दैवी अन्तःप्रेरणा विश्व के व्यवहारशास्त्र की नींव है। तीन सौ वर्ष पश्चात् आज जब हिन्दू समाज दासता के उस विपाक्त वातावरण में निकलकर स्वतन्त्रता का अनुगामी हो रहा है तब तुलसी उसकी धार्मिक और सामाजिक चेतना का नेतृत्व करने के लिए अपनी रचनाओं में उसी प्रकार तत्पर दीख पड़ते हैं जिस प्रकार वह अपने युग में कर चुके थे और इसीलिए हिन्दी-साहित्य के कवियों में उनका स्थान सब से आगे है।

---

५. आचार्य केशवदास

जन्म सं० १६१२ मृत्यु सं० १६७६

केशवदास का जन्म ओड़छा नगर में सं० १६१२ के लगभग हुआ था। उनके पिता पं० काशीनाथ सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका वंश पंडितों का वंश था और उसका ओड़छा-राजवंश में अत्यधिक मान था। केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र राजा रुद्रप्रताप के दरबार में पुराण-वृत्ति पर नियुक्त थे और उनके पिता काशीनाथ मिश्र राजा रुद्रप्रताप के उत्तराधिकारी राजा मधुकर शाह के दरबार के एक रत्न थे। मधुकर शाह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र रामशाह गद्दी पर बैठे, परन्तु उनमें अधिक कार्य-कुशलता नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने भाई इन्द्रजीत को सारा राज-काज सौंप दिया। इन्द्रजीत ने आचार्य केशवदास को अपना गुरु माना और भेंट में उन्हें २१ गांव दिये। राजा रामशाह भी उन्हें अपना मित्र मानते थे। इस प्रकार केशवदास पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों समान रूप से प्रसन्न थीं। केशवदास के कुल में सभी लोग पूर्ण विद्वान थे। उनके किसी पूर्वज ने प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ 'भाव प्रकाश' की रचना की थी। उनके पिता प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ 'शीघ्रबोध' के रचयिता थे। अपने कुल के पाण्डित्य का केशव पर भी प्रभाव पड़ा। वह भी अपने समय के संस्कृत-साहित्य के अद्वितीय विद्वान थे, पर उनका युग संस्कृत-साहित्य के मान का युग नहीं था। वह था हिन्दी भाषा का उदय-काल। इसलिए

जीवन-परिचय

केशव ने समय की रुचि पहचान कर अपने कुल की परम्परा के विरुद्ध हिन्दी को अपनाया। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं :—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकाश॥

केशव बड़े दृढ़-चरित्र, स्वाभिमानी, विद्वान और निस्पृह ब्राह्मण थे। उन्हें अपनी जाति का गौरव अत्यन्त अभीष्ट था। सुसम्पन्न पंडित-कुल में जन्म लेने के कारण उनमें धन-लोलुपता तो थी ही नहीं। इन्द्रजीत की उनपर श्रद्धा थी. बीरबल उन्हें बहुत मानते थे। वह चाहते तो इन दोनों व्यक्तियों से बहुत-कुछ ऐंठ सकते थे, परन्तु उन्होंने उनके इच्छा प्रकट करने पर भी उनके सामने कभी हाथ नहीं फैलाया। इस मनस्विता का उनके काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। वह दरबारी कवि थे, पर दरबारीपन उनमें नहीं था। झूठ-मूठ किसी की हाँ-में-हाँ मिलाना उनके स्वभाव में नहीं था। दरबार के शिष्टाचार और राज-नीति के दाव-पेचों से वह भलीभाति परिचित थे। वह वाक्पटु भी थे। राजनीतिक संकट उपस्थित होने पर इन्द्रजीत तथा राजा रामशाह को अपनी अमूल्य मंत्रणा भी प्रदान किया करते थे। एक बार उन्होंने इन्द्रजीत को तत्कालीन मुग़ल सम्राट अकबर के कर से चिन्ता-मुक्त कराया था। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इन्द्रजीत के पास राय प्रवीन नाम की एक अत्यन्त सुन्दर गुणवती वेश्या थी। केशव ने स्वयं उसको काव्यशास्त्र की शिक्षा दी थी। इस प्रकार काव्य और संगीत का उसमें सुन्दर सम्मिलन हो गया था। अकबर ने उसकी प्रशंसा सुनकर उसको अपने दरबार में बुलाया। वह इन्द्रजीत को पति रूप में स्वीकार कर चुकी थी। उसके सामने अपने पातिव्रत और इन्द्रजीत के आत्मसम्मान का प्रश्न था। इसलिए उसने अकबर के सामने उपस्थित होकर यह दोहा कहा :—

बिनती राय प्रवीन की सुनिए साहि सुजान।
जूठी पातरि खात हैं बारी, बायस, स्वान॥

कामांध अकबर ने राय प्रवीन का भाव नहीं समझा। उसने कुपित होकर इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया। छोटा राज्य और इतनी बड़ी रक़म ! इन्द्रजीत घबड़ा गये। उनकी समझ में कुछ नहीं आया। केशवदास उनकी चिन्ता देखकर स्वयं दिल्ली गये और वीरबल से मिलकर उन्होंने इन्द्रजीत को इस चिन्ता से मुक्त किया। इन्द्रजीत का मान रह गया और राय प्रवीन का पातिव्रत धर्म। इसे कहते हैं राजनीति-कौशल ! उन्होंने अपनी इस कला का प्रयाग अपनी रचनाओं में भी किया है।

केशव को रामचन्द्र का इष्ट था। वह राम के भक्त थे। पर उनकी भक्ति तुलसी की भक्ति नहीं थी। गार्हस्थ्य जीवन में उन्हें प्रेम था। वह राजदरबार में बड़े ठाट-बाट से रहते थे। वह बड़े रसिक भी थे। यह रसिकता उनमें वृद्धावस्था तक बनी रही। कहते हैं, एक बार अपनी वृद्धावस्था में वह किसी कुएँ पर बैठे हुए थे। उसी समय पानी भरने के लिए वहाँ कई युवतियाँ आईं और उनकी ओर देखकर हँसने लगीं। इस पर केशव ने यह दोहा कहा :—

केशव केसनि अस करी, जस अरि हूँ न कराहि।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

राजा की मृत्यु के पश्चात् केशव वीरसिंह के राज-कवि रहे। वीरसिंह की प्रशंसा में उन्होंने 'वीरसिंह देव-चरित' तथा जहाँगीर के गौरवगान में 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' की रचना की। उनका देहावसान सं० १६७६ के लगभग हुआ। कहा जाता है कि मरने पर उन्हें प्रेत-योनि मिली थी। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने तुलसीदास के आदेशानुसार अपने ग्रन्थ राम चन्द्रिका का २१ बार पारायण किया था।

केशव ने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से अब तक केवल नौ का पता चलता है। जो इस प्रकार है—१. रामचन्द्रिका २. कवि-प्रिया, ३०. रसिक-प्रिया ४. विज्ञान गीता ५. रतन बावनी,

केशव की रचनाएँ ६. वीर सिंह देव-चरित ७. जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, ८. नख-शिख और ६. राम अलंकृत मंजरी। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. राम चन्द्रिका—यह केशव की अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। इसमे राम कथा का सविस्तार वर्णन है। ३६ अध्याय हैं। रामचरित मानस के बाद राम कथा-सम्बन्धी हिन्दी काव्य साहित्य में इसी ग्रन्थ का स्थान है। स्वप्न मे वाल्मीकि का आदेश पाकर केशव ने इसकी रचना की है। इसलिए उनके इस महाकाव्य मे राम का नर-रूप में ही चित्रण हुआ है। इसकी छन्द-योजना भी रामचरित मानस से भिन्न है। इसमे अलंकारों का इतना बाहुल्य है कि यह उदाहरण-ग्रन्थ-सा बन गया है। इसकी समाप्ति कार्तिक शुक्ल १२, बुधवार, सं० १६५८ को हुई थी।

२. कवि-प्रिया—इस काव्य-ग्रन्थ की रचना रामचन्द्रिका के साथ ही हुई है। इसकी समाप्ति का समय है कार्तिक शुक्ल ५, बुधवार सं० १६५८। इस समय केशव की अवस्था लगभग ४५-४६ वर्ष की थी। यह उनका लक्षण-ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने कवियों के हितार्थ कविता के दोप-गुण तथा उसकी कसौटी, कवियों के दोप-गुण, अलंकार, बारहमासा, नखशिख, तथा चित्र-काव्य आदि का विशद विवेचन किया है।

३. रसिक-प्रिया—यह ग्रन्थ इन्द्रजीत सिंह के आदेशानुसार बनाया गया था और सम्वत् १६४८ मे सम्पूर्ण हुआ। यह शृंगार रस का ग्रन्थ है। नौ रसों के कथन के पश्चात् शृंगार रस की प्रधानता दिखाई गई है। शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए नायक तथा नायिका-भेद पर भी इसमे प्रकाश डाला गया है। इसके बाद हाव-भावों का भी सोदाहरण वर्णन है।

४. विज्ञान गीता—सं० १६६७ की रचना है। इस समय उनकी अवस्था ५५ वर्ष की थी। उन्होंने संसार देख लिया था और राजसी

सुख भी भर भोग लिया था। इसलिए अन्त में उनका वैराग्य की ओर झुकना स्वाभाविक था। इस पुस्तक से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय उनमें भक्ति-भावनाओं की कमी हो रही थी और वैराग्य का उद्रेक। इसमें २१ अध्याय हैं जिनमें से बारह में विवेक तथा महामोह का संग्राम संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक से लिया गया है। इस पर श्रीमगवद्गीता तथा योगवाशिष्ठ की भी छाप है। इसके कई अध्याय रोचक और साधारण हैं।

५. रतन बावनी—यह ५२ छन्दों का वीर रस पूर्ण छोटा-सा काव्य है। इसमें राजा इन्द्रजीतसिंह के बड़े भाई रतनसिंह की वीरता का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन है। केशव ने इसकी रचना छप्पय छन्दों में की है। इसका रचनाकाल सम्भवतः संवत् १६६२ है।

६. वीरसिंहदेव चरित—इसमें दोहा-चौपाइयों में ओडछा के महाराज वीरसिंह देव का चरित्र वर्णन किया गया है। वीरसिंह देव की प्रतिष्ठा जहाँगीर के दरबार में हुई क्योंकि इन्होंने उनके इशारे पर अकबरी दरबार के प्रसिद्ध विद्वान अबुलफ़ज़ल की हत्या कर डाली थी। इसका रचनाकाल सं० १६६० के लगभग माना जाता है।

७. जहाँगीर-जस-चन्द्रिका—इस ग्रन्थ का विषय इसके नाम ही से स्पष्ट है। इसका रचना-काल भी वीरसिंह देव-चरित के आस-पास है। वीरसिंह देव के कहने से ही सम्भवतः इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसकी कविता साधारण है।

केशव के अन्य ग्रन्थ साधारण हैं। जो ग्रन्थ इस समय तक उपलब्ध हो सके हैं उनके सम्बन्ध में उपर्युक्त जानकारी पर्याप्त है।

केशव का समय

हिन्दी-साहित्य के पुनीत क्षेत्र में केशव का आविर्भाव ऐसे समय हुआ जब भारत का राजनीतिक वातावरण पहले की अपेक्षा अधिक सुधर गया था। दिल्ली के राज-सिंहासन पर मुग़ल सम्राट अकबर विराजमान था और उसकी समन्वय-वादी नीति से हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे के

अधिक सम्पर्क मे आ गये थे। भयंकर आँधी आने के पश्चात् जिस प्रकार निर्मल आकाश मंगलप्रद होता है, उसी प्रकार राजनीतिक उथल-पुथल के पश्चात् वह युग जन-जागरण के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। हिन्दुओं को यह निश्चय हो गया कि मुसलमान इस देश से निकाले नहीं जा सकते और मुसलमानों ने यह समझ लिया कि उन्हें अब यहीं जीना और मरना है। इसलिए दोनों सम्प्रदाय के लोगों ने अपने-अपने धार्मिक भेद-भावों को त्याग कर एक दूसरे के निकट आने की चेष्टा की। इस चेष्टा को अकबर की समन्वयवादी नीति से प्रोत्साहन मिला। इसका फल यह हुआ कि दोनों वर्गों के विद्वानों ने एक-दूसरे के साहित्य को अपनाया। संस्कृत के कई ग्रन्थों के फ़ारसी भाषा में अनुवाद हुए और फ़ारसी के कई ग्रन्थों का हिन्दू जनता में प्रचार हुआ। अबुल फ़ज़ल और फ़ैज़ी उस समय संस्कृत तथा फ़ारसी और अरबी के बड़े विद्वान थे। बीरबल अपनी वाक्पटुता के कारण अकबरी दरबार के एक रत्न थे। अकबर स्वयं विद्वानों का आदर करता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक ऐक्य, सामाजिक तथा धार्मिक सुधार, शासन में हिन्दुओं का पूर्ण सहयोग तथा राष्ट्र की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करने का उद्योग आदि के कारण साहित्य का अच्छा विकास हुआ। दर्शन, ज्योतिष, धर्म, वैद्यक तथा अन्य विषयों के हिन्दू-ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद हुआ।

अकबर के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। वह स्वयं हिन्दी-कवियों का संरक्षक था। सूर और तुलसी उसी युग की देन थे। केशव ने उसी युग में अपने ग्रन्थों की रचना की। अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी साहित्य का यही क्रम जारी रहा। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों कविता-प्रेमी थे। कहने का तात्पर्य यह कि केशव का काल साहित्य-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयुक्त था। उस काल में हिन्दी का जो साहित्य तैयार हुआ उस पर हिन्दी भाषा-भाषियों को गर्व है और यह गर्व तब तक बना रहेगा जब तक भारतीय

संस्कृति संसार में जीवित रहेगी।

अकबर के शासन-काल का पूर्वार्द्ध सूर, तुलसी और मीरा का काल था। उस काल में हिन्दी साहित्य का जो निर्माण हुआ उसमें पीड़ित हिन्दू-जनता की एक मांग की पूर्ति हुई थी।

केशव का महत्त्व

वह जनता के कल्याण का, उसे संगठित करने और उसके उद्विग्न हृदय में विष्णु के साकार रूप राम और कृष्ण के अलौकिक चरित्र के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति उत्पन्न करने का साहित्य था। इस प्रकार के साहित्य से हिन्दू-जनता के सामने उसके धर्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ उससे उसे अधिक सान्त्वना मिली। कबीर और नानक के निराकार ईश्वर जो काम न कर सके वह काम सूर और तुलसी के लौकिक कृष्ण और राम ने कर दिया। विक्षुब्ध हिन्दू-जनता इन दोनों कवियों के स्वर में अपना स्वर मिला कर अपना दुःख भूल गई और थोड़े ही दिनों पश्चात् उसने अकबर के शासन-काल का वह उत्तरार्द्ध भाग देखा जिसमें उसे कोई मानसिक कष्ट नहीं था। इस प्रकार सूर और तुलसी के साहित्य से जहाँ हिन्दू-जनता की स्वाभाविक माँग की पूर्ति हुई वहाँ साहित्य के एक उत्कृष्ट तथा आवश्यक अंग की भी पूर्ति हो गई। अब रह गया भावी साहित्यकारों के लिए काव्य के कला-पक्ष का ज्ञान। इस अभाव को केशव ने अकबर के उत्तरार्द्ध काल में पूरा किया। वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास के रीतिकाल के अग्रदूत के रूप में हमारे सामने आये। उन्होंने एक ओर राम-कथा का आधार लेकर तुलसी की परम्परा का पालन किया और दूसरी ओर कवि-प्रिया तथा रसिक प्रिया की रचना करके भावी कवियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यहाँ कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि केशव के पहले भी रीति-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि केशव से पहले पुष्य, सूर, कृपाराम, मोहनलाल तथा करनेस आदि रीति-ग्रन्थों की रचना कर चुके थे, पर उनकी रचनाओं में काव्य-कला का सूक्ष्म

विवेचन नहीं था। केशव ने साहित्य-शास्त्र का विधिवत् विवेचन कर हिन्दी में आचार्यत्व की स्थापना करने का सर्वप्रथम श्रेय प्राप्त किया। उन्होंने काव्य की जो मर्यादा बाँध दी, काव्य की विभिन्न शैलियों का जिस प्रकार स्पष्टीकरण कर दिया उसी के अनुसार अधिकांश परवर्ती कवियों ने अपनी अमर वाणी का अलंकृत किया। यह उन्हीं का प्रसाद था कि बिहारी, पद्माकर, मतिराम, भूषण और देव ने उनके मार्ग पर चलकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना अमिट स्थान बना लिया।

केशव का महत्त्व उनके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से भी आँका जा सकता है। जहाँ सूर और तुलसी अपने काव्य में रस के समर्थक थे वहाँ केशव ने काव्य में चमत्कार का समर्थन किया। केशव चमत्कारवादी कवि थे। अपने काव्य में चमत्कार लाने के लिए उन्होंने देश और काल तक की चिन्ता नहीं की। इसका कारण था उनका पाण्डित्य। केशव संस्कृत साहित्य के पूर्ण पण्डित थे। दर्शन और नीतिशास्त्र का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। ज्योतिष और वैद्यक में भी उनकी पहुँच थी। इसलिए गम्भीर अध्ययन, विस्तृत अनुभव, ऊँची कल्पना, शब्द-बाहुल्य, तथा रचना-कौशल के कारण चमत्कारी कवि बनने में सफल हो सके। उनके परवर्ती कवि उनके इस मार्ग का प्रतिनिधित्व न कर सके। उनमें कवित्व-शक्ति थी, केशव का पाण्डित्य नहीं था। इसलिए केशव के काव्य का लक्ष्य उनके परवर्ती कवियों के काव्य के लक्ष्य से मेल नहीं खाता। वह अपने काल के सैकड़ों कवियों के बीच अपने ढंग के अनोखे और निराले कवि दृष्टिगोचर होते हैं।

एक दृष्टि से केशव के काव्य का और भी महत्त्व है। काव्य के दो अंग हैं—अंतरंग और बहिरंग। कबीर ने अपने समय की पीड़ित जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को अपनी ज्ञानमयी भक्ति के रस से सींच कर समस्त सृष्टि के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया था, परन्तु वह इस अंतरंग सौन्दर्य का अधिक दिनों

तक आनन्द न ले सकी। मुगलों का आधिपत्य स्थापित होते ही वह बहिरंग सरसता की ओर झुकी। तुलसी और सूर ने उसके इस मनोवेग को अपने भक्ति रस में लीन करना चाहा, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। केशव ने उसकी इस भावना का नेतृत्व किया। उन्होंने बहिरंग से सम्बन्ध रखने वाली उस युग की समस्त मनोवृत्तियों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया और उनका सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया। यही उनकी विशेषता है।

केशव हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। उनका आचार्यत्व हिन्दी साहित्यकारों के लिए आदर्श है। हिन्दी में दो ही बड़े आचार्य हैं—केशव और देव।* केशव का आचार्यत्व देव के आचार्यत्व से अधिक श्रेष्ठ है। केशव की रचनाओं में वाण, माघ, भवभूति, कालिदास तथा भास तक के सुन्दर प्रयोग, अद्भुत विचार और क्लिष्ट अलंकार ज्यों के त्यों मिलते हैं। उनकी रचनाओं में पाडित्यपूर्ण अनुवाद अधिक हैं। आचार्यत्व और पाण्डित्य-प्रदर्शन के फेर में पड़ कर उन्होंने सरलता का ध्यान ही नहीं रखा। उन्होंने पिंगल तथा अलंकार-शास्त्र का ध्यान रखकर अपने छन्दों की रचना की। श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास, सन्देह, श्लेष उपमा, और उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों की भरमार से उनकी रचना साधारण पाठक के समझने योग्य न बन सकी। उसमें रस-परिपाक भी न हो सका। उनका विरह-वर्णन पढ़कर उनके पाण्डित्य का आभास होता है, आँखों में आँसू नहीं आते। उनमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की रुचि अत्यधिक है। इसी रुचि ने उनकी रचनाओं को गूढ़ और कठिन बना दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनीति, समाजनीति, राज दरबार के शिष्टाचार, धर्म-

केशव का आचार्यत्व

---

* मेरे मत से इसमें भिखारीदास का नाम और जोड़ना चाहिए।
—संपादक।

नीति, वस्तु-वर्णन, राज-दरबार-वर्णन, सौन्दर्य-प्रकाशन आदि को इतना अधिक स्थान दिया है और इन विषयों को अपने पाण्डित्य से इतना परिपूर्ण बना दिया है कि उनके अध्ययन के लिए किसी आचार्य की शिष्यता में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। संस्कृत का पाण्डित्य तो प्रत्येक छन्द से झलकता है।

केशव हिन्दी में रसिक-प्रिया की रचना के कारण आचार्य कहे जाते हैं। वह काव्य में अलंकारों को प्रधानता देने के अनुयायी हैं। उन्होंने दण्डक-रुय्यक आदि अलंकारवादी आचार्यों का अनुकरण किया है। उनका कथन है :—

भूषण बिन न बिराजई कविता, वनिता, मित्त।

भूषण अथवा अलंकारों में केशव ऐसी वस्तुएँ लेते हैं जिनसे कविता-कामिनी का शृंगार हो सकता हो। वह अपनी रुचि के अनुसार उसे सजाते-सँवारते हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या के वह भक्त हैं, संदेह और श्लेष पर उनकी श्रद्धा है, यमक और अनुप्रास से उनकी मित्रता है। उनकी समस्त रचनाएँ अलंकार-प्रधान हैं। एक छन्द में अनेक अलंकार उनकी रचना की विशेषता है।

अपनी रसिकप्रिया में केशव ने नौ रसों तथा भाव-भेदों का प्रसंग उठाया है। उन्होंने समस्त रसों को शृंगार में ही मिलाने की चेष्टा की है। उन्होंने शृंगार के प्रच्छन्न तथा प्रकाश और संयोग तथा वियोग नामक भेद स्पष्ट करके प्रत्येक के बड़े ललित उदाहरण दिये हैं। नायक और नायिकाओं का भी वर्णन किया है।

हम पहले बता चुके हैं कि केशव चमत्कारवादी कवि हैं। वह अपनी कला में प्रवीण हैं। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी कवि होने के कारण उनका वाग्-वैदग्ध ऊँचे दर्जे का

केशव की कविता है। उनकी वस्तु-व्यंजनाएँ भी खरी हैं। उनकी कल्पनाओं में मस्तिष्क का योग अधिक है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि उनका ध्यान जितना

पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर था उतना काव्य-रचना के विकास की ओर नहीं था। इसीलिए उनकी रचनाओं में रागात्मक तत्व का अभाव है, उनकी व्यंजनाओं में शुष्कता है, उनकी कल्पनाओं में हृदय-हीनता है। उनकी प्रवृत्तियों में कठोरता है। उनकी कविता हृदय को नहीं छूती, मस्तिष्क को प्रभावित करती है। यही कारण है कि उनके आलोचक उन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहते हैं।

केशव वर्णन-प्रधान कवि हैं। उनकी रचनाओं में संसार के बाह्य रूप का चित्रण अच्छा हुआ है, परन्तु वह भी दरबार ही तक सीमित है। जीवन की सामान्य समस्याएँ, दाम्पत्य-सम्बन्ध, वात्सल्य, प्रेम आदि की संवेदनाएँ उनकी रचनाओं में चित्रित नहीं हुई हैं। जीवन के कोमल पक्ष का उनमें अभाव-सा है। उनका प्रकृति-वर्णन भी उक्ति-चमत्कार पर आश्रित है। उसमें कवि-कर्म का निर्वाह मात्र है। प्रकृति के प्रति उनका अनुराग नहीं जान पड़ता; उसकी रमणीयता में उनका मन निमग्न नहीं होता। ऐसे समय, वह अप्रस्तुतों की कौतूहलपूर्ण योजना में संलग्न रहते हैं। उनका सरयू और गोदावरी नदी का वर्णन एक-सा है, समुद्र का वर्णन करते समय वह ब्रह्मज्ञान की ओर चले जाते हैं; सूर्योदय के वर्णन में वह शृंगार और वीभत्स का एक साथ वर्णन करते हैं; षट ऋतुओं के वर्णन में उपमा की ओर उनका ध्यान अधिक रहता है, प्रत्यक्ष प्रकृति की ओर कम। पाण्डित्य-प्रदर्शन का लोभ उनमें इतना अधिक है कि वह ऐसे अवसरों पर भी देश और काल की चिन्ता नहीं करते। शाब्दिक चमत्कार के फेर में पड़कर वह प्रकृति के सहज सौन्दर्य का गला घोट देते हैं।

केशव की रामचन्द्रिका एक महाकाव्य है। इस में भगवान राम की कथा का सविस्तर वर्णन है। राम के भक्त होने पर भी उन्होंने राम को ऐतिहासिक रूप में चित्रित किया है। तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं, केशव के राम एक बड़े ऐतिहासिक पुरुष हैं। वही काव्य के नेता हैं। सीता आलम्बन हैं। राम का अपनी पत्नी तथा पुत्रों से

मिलना कार्य है। इस दृष्टि से काव्य का स्थायी भाव रति होना चाहिए और नायक धीरोदात्त; परन्तु समस्त पुस्तक पढ़ने पर भी यह पता नहीं चलता कि शृंगार रस उसमें कहाँ है। संयोग, वियोग तथा जीवन के मार्मिक स्थलों का वर्णन तो उसमें कहीं मिलता ही नहीं। उसमें राम की दिनचर्य्या का, उनके उठने बैठने, उनके खाने-पीने, उनके भोजन करने और सोने इत्यादि का वर्णन, रूप, शोभा ऐश्वर्य, जल-क्रीड़ा, नखशिख और षट्ऋतुओं आदि के वर्णन में घुल मिल जाता है। ऐसे अवसरों पर यह जान पड़ता है कि केशव राम को भूल कर शब्द-विलास में संलग्न हो गये हैं। उनके राम उनके इशारे पर नाचने वाले नायक हैं। वह स्वयं कुछ नहीं हैं, यंत्रवत् हैं, निर्जीव हैं, हृदयहीन हैं। इस प्रकार उनकी राम-भक्ति उनकी कृत्रिम प्रवृत्तियों के प्रवाह में वह जाती है। उनकी रचनाओं से उनके राम-भक्त होने का कहीं भी परिचय नहीं मिलता।

केशव ने राम-कथा की घटनाओं में भी कुछ परिवर्तन किये हैं, परन्तु उनका महत्त्व काव्य तथा कला की दृष्टि से अधिक नहीं है। उनके परिवर्तन कथा को संक्षेप रूप देने में सहायक होते हैं, कथा के विकास की ओर उन्मुख नहीं होते। कुछ परिवर्तन तो वास्तव में परिवर्तन भी नहीं कहे जा सकते। उनकी कल्पना में पंचायत को भी स्थान मिला है। राम और परशुराम के संवाद में महादेव जी का अकस्मात् टपक पड़ना तथा इसी प्रकार चित्रकूट में भरत-मनावन के समय गंगा जी का भरत को समझा बुझाकर लौटा देना उनकी पञ्चप्रियता का प्रमाण है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह काव्य-प्रतिभा और सहज कल्पना के अभाव के कारण इन मार्मिक स्थलों का चित्रण करने में असमर्थ से थे। उनकी प्रकृति राजनीतिक, कूटनीति की ओर उन्मुख थी। लक्ष्मण जब वन जाने के लिए राम से कहते हैं तब राम उनसे कहते हैं:—

आप भरत्थ कहा धौं करैं जिय भाय गुनौ

राम का भरत के आचरण के सम्बन्ध में ऐसी शंका करना कूट-नीति नहीं तो और क्या है। तुलसी के राम इसी अवसर पर कहते हैं :—

भरतहि होइ न राज मद, विधि हरिहर पद पाइ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्मिक स्थलों के चित्रण में केशव की कला ने अधिक सफलता नहीं पाई है। उनके संवाद भी अधिक लंबे और शुष्क हैं। उनमें तर्कों की शुष्कता है, हृदय की कोमलता नहीं है। उन में नाटकीय अभिनय अवश्य है। उनमें पात्रों की विशेषताओं का निर्वाह बड़े कौशल से किया गया है। केशव ने राम-कथा में से उन्हीं स्थानों को सम्वाद के लिए चुना है जो उनकी प्रकृति और क्षमता के लिए अनुकूल हैं।

केशव अपनी समस्त रचनाओं में दरबारी कवि हैं। अपनी राम चन्द्रिका में उन्होंने मार्मिक स्थानों की उपेक्षा करके केवल राजसी शृंगार, नगर की सजावट, उत्सवों की रमणीयता, आदि पर अपनी दृष्टि जमाई है। स्वाभाविकता और काव्योचित भावुकता तो उनकी रचनाओं में है ही नहीं, और जहाँ थोड़ा-बहुत है भी वहाँ उनकी अलंकार-योजना उस पर अपना रोब ग़ालिब किये हुए है। अलंकारों का प्रचुर प्रयोग केशव के काव्य-कानन की असहनीय सुगन्ध है, किन्तु फिर भी हिन्दी जगत् उनके काव्य को आदर की दृष्टि से देखता है और उनके पाण्डित्य का लोहा मानता है।

केशव का समाज उच्छृखंल समाज था। ऐसे समाज के लिए केशव ने संयम की सीमा को बहुत पीछे छोड़ कर शृंगार के बहुत ही नग्न चित्र अंकित किये हैं। ऐसे चित्रों में कृष्ण उनके नायक हैं। और राधिका नायिका। रामचन्द्रिका में सीता राम के प्रेम का वर्णन उन्होंने किया ही नहीं। इस से यह अनुमान होता है कि उनमें संयत-प्रेम-वर्णन की सामर्थ्य ही नहीं थी। सीता की दासियों का शृंगारिक वर्णन कला-प्रधान है। उस में अलंकारों की चकाचौंध और शब्दों

की तोड़-मरोड़ है, हृदय-पक्ष नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी समस्त रचनाएँ शुष्क हैं। कहीं-कहीं उनकी कोमल कल्पनाएँ अत्यन्त सुन्दर हुई हैं। रसिकप्रिया तथा कविप्रिया में बहुत से स्थानों पर उन्होंने बड़ी सुन्दर कल्पनाओं से काम लिया है। इससे प्रकट होता है कि सच्चे कवियों की क्षमता केशव में अवश्य थी, अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा प्रेम के नग्न चित्र खींचने के लोभ से वह उसे अपने उपयोग में न ला सके।

केशव की भाषा और शैली

केशव की भाषा पर हम दो दृष्टियों से विचार करेंगे। हम यह देखेंगे कि १. वह भाव के अभिव्यंजन में कहाँ तक समर्थ हुई है और २. उस भाव को कितनी सुन्दरता से प्रकट करने में कवि ने अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। हम यह तो जानते ही हैं कि केशव की भाषा व्रज भाषा है। यही उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा थी; परन्तु उनकी भाषा पर बुन्देलखंडी का बहुत कुछ प्रभाव है। यह शब्दों के प्रयोग, क्रिया के कालों तथा संज्ञा-सर्वनामों के रूपों में भी लक्षित होता है। कहीं-कहीं बुन्देलखंडी मुहाविरों का भी प्रयोग मिलता है। कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो व्रज भाषा में अप्रचलित थे। विदेशी शब्द भी उन्होंने अपनाये हैं, पर बहुत कम। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ बहुत खटकती हैं। इस दोष के अतिरिक्त उनकी भाषा में अन्य दोष भी हैं। उन्होंने अपनी भाषा में ऐसी पदावली की योजना भी की है जो एक दम संस्कृत-सी प्रतीत होती है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह क्लिष्ट है। यह क्लिष्टता लोगों को इसीलिए मालूम होती है कि भाषा से टक्कर लेने के पश्चात् भी वह कवि की अन्तरात्मा तक नहीं पहुँच पाते। उनके छन्दों का चुनाव भी अनुपयुक्त है। एक ही छन्द में ठूँस-ठूँस कर भाव भरने के कारण भी वे क्लिष्ट हो गये हैं और प्रवाह में शिथिलता आ गई है। रस तथा नायिका भेद-वर्णन के समय उन्होंने

प्रसादयुक्त भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा कवित्त, सवैये आदि में प्रसाद-युक्त, सरल और सुव्यवस्थित है। अपनी भाषा को सजाने के लिए उन्होंने मुहाविरों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। इन से कई स्थलों पर भाषा के सौन्दर्य में अभिवृद्धि भी हुई है और भावों के स्पष्टीकरण में सहायता मिली है।

शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द की इन्हीं शक्तियों से काव्य-सौन्दर्य की माप होती है। अभिधा शक्ति के द्वारा हम केवल शब्द के साक्षात् अर्थ तक पहुँच सकते हैं; लक्षणा से काव्य में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य आता है और व्यंजना द्वारा रस की सिद्धि होती है। केशव ने अभिधा शक्ति से अधिक और लक्षणा से कम काम लिया है। व्यंजना का तो बहुत ही अभाव है। यही कारण है कि केशव के भावों में गंभीरता नहीं आने पाई है। उनकी रचनाओं में लक्षणामूलक व्यजना तो है ही नहीं; अभिधा-मूलक व्यंजना संवादों में अवश्य है। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ उनकी रचना में स्वाभाविक सौन्दर्य आ गया है।

केशव की शैली में अपनापन बहुत है। वह हज़ारों कवियों में शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। उन्होंने अपनी रचना में संस्कृत काव्य-शैली का अनुकरण किया है। उनकी छन्द-योजना संस्कृत-साहित्य की छन्द-योजना है। कवित्त, दोहा, सवैया आदि में भी उन्होंने सफलता-पूर्वक रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं में छन्दों का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से मिलता है। कहीं यदि दो पंक्तियाँ दोहे की हैं तो दो नाराच छन्द की और फिर दो अन्य छन्द की। इस प्रकार के छन्द-परिवर्तन से कथा-सूत्र की गति अवश्य बढ़ जाती है, परन्तु पाठक को असुविधा बहुत होती है।

अब तक केशव की काव्य-कला की जो आलोचना की गई है उससे यह स्पष्ट है कि वह प्रथम श्रेणी के आचार्य थे। उन्हे अपने आचार्यत्व का अभिमान था और वह उसकी छाप अपने साहित्य

तुलसी और केशव

पर छोड़ जाना चाहते थे। हिन्दी साहित्य उस समय अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। कबीर, सूर, तुलसी और जायसी आदि कवियों की रचनाओं में भावुकता थी, आचार्यत्व न था। उनकी रचनाओं में काव्य का भाव-पक्ष था, कला-पक्ष न था। पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभी केशव ने इसी कला-पक्ष को अपना कर साहित्य के एक अंग की पूर्ति की। यही केशव की रचना का उद्देश्य था। तुलसी लोकसंग्रही कवि थे। उन्होंने अपनी सहज भावुकता को काव्य का रूप देकर जहाँ अपना मनोरंजन किया वहाँ जनता के उद्विग्न हृदय को भी साहित्य की सरसता से निर्मल कर दिया। तुलसी भावुक कवि थे, केशव आचार्य कवि। तुलसी ने लोकरंजन तथा स्वान्तःसुखाय कविता की, केशव ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए काव्य का सहारा लिया। तुलसी में सामाजिक भावना थी। वह चाहते थे समाज का कल्याण। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने राम में शक्ति, शील और सौन्दर्य की स्थापना करके समाज को उनकी ओर आकर्षित किया। केशव राजनीति और धर्मनीति के पंडित थे। उनके सामने समाज नहीं था, राजदरबार था। वह दरबारी कवि थे। इसलिए उन्होंने अपने राम को एक ऐतिहासिक राजा के रूप में चित्रित किया और उनके समस्त जीवन को राजनीति और धर्मनीति का केन्द्र बना दिया। इसलिए केशव के राम को वह लोकप्रियता नसीब नहीं हुई जो तुलसी के राम को। तुलसी के राम में अतुल शक्ति है, अतुल वैभव है, अतुल पराक्रम है। शील उनमें इतना अधिक है कि वह छोटे-बड़े सब को एक दृष्टि से देखते हैं और सब के सुख-दुःख में शरीक होते हैं, सुन्दर वह इतने अधिक हैं कि कामदेव भी उनके सामने मात है। केशव के राम कूटनीतिज्ञ अयोध्या-नरेश हैं। उनका रहन-सहन राजाओं का रहन-सहन है, उनका न्याय राजाओं का न्याय है, उनका शासन एक लोक-हितैषी राजा का शासन है। इस प्रकार दोनों महाकवियों की

राम-कथा का उद्देश्य भिन्न है।

तुलसी ने अपनी राम-कथा का विकास अपनी भक्ति-भावना के अनुसार किया है और केशव ने अपनी काव्य-कला के अनुसार। इसलिए दोनों महाकवियों की राम-कथाओं में विशेष अन्तर दिखाई पड़ता है। तुलसी ने राम-कथा के घटनाचक्रों का आयोजन वाल्मीकि और व्यास की योजना से मिलता-जुलता किया है। केशव ने इस दिशा में संस्कृत के कवि माघ, श्री हर्ष और भास के अनुसार चलने का प्रयत्न किया है। तुलसी अपनी सहज भावुकता के कारण मार्मिक स्थलों के चित्रण में सफल हुए हैं और केशव अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के कारण राजसी ठाट-बाट के, वाह्य सौन्दर्य के चित्रण में अधिक कृतकार्य हुए हैं। तुलसी भाव-प्रधान कवि हैं, केशव वर्णन-प्रधान। तुलसी उच्चकोटि के मर्य्यादावादी कवि हैं। वह अपनी भावुकता में आकर मर्य्यादा की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। वह यह कभी नहीं भूलते कि राम महापुरुष हैं, उनका जन्म लोक-कल्याण के लिए हुआ है। केशव अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की झोंक में मर्य्यादा की चिन्ता नहीं करते। उस समय उनके राम उनके हाथों के खिलौना बन जाते हैं। एक प्रभावशाली मंत्री के हाथ में पड़कर जो दशा राजा की होती है वही दशा राम की केशव के काव्य में है। केशव के राम प्रपंची हैं, मायावी हैं। तुलसी के राम मर्य्यादावादी, लोक-हितैषी हैं। केशव अपने अहंकार, अपने पाण्डित्य के कारण राम को मर्य्यादावादी रूप न दे सके। तुलसी दीनता-प्रिय थे। राम ऐसे स्वामी को पाकर उन्होंने दीन भाव से उनकी आराधना की।

राम-कथा-वर्णन में तुलसी की दृष्टि पवित्र प्रेम पर केन्द्रित थी। मर्य्यादा के भीतर ही उन्होंने प्रत्येक मानवी व्यापार का वर्णन किया। सामाजिक एवं दाम्पत्य जीवन की जो झाँकियाँ उन्होंने प्रस्तुत कीं वे भारतीय परम्परा के अनुकूल उतरीं और उनसे जीवन को बल तथा उत्साह प्राप्त हुआ। केशव ने अपने काव्य में दाम्पत्य जीवन के

उनके भाई बलभद्र ने भी काव्य-कला के सम्बन्ध मे ग्रन्थ लिखे हैं। बालकृष्ण त्रिपाटी ने भी अपनी रस चन्द्रिका में काव्य-कला का अच्छा निरूपण किया है। शाहजहाँ के राज-कवि सुन्दर ने भी सुन्दर-शृंगार नाम का काव्य लिखा है, परन्तु इन समस्त काव्य ग्रन्थों के बीच कविप्रिया और रसिकप्रिया का जो महत्व है वह किसी ग्रन्थ को भी प्राप्त नहीं है। केशव हिन्दी-संसार मे आचार्य-परम्परा के जन्मदाता हैं। रीति काल के वही अग्रदूत हैं। उनकी रचनाओं से हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट अग की पूर्ति हुई है और उसे बल मिला है। भावी कवियों के वह आजतक पथ-प्रदर्शक हैं। अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान काव्य-कला की दृष्टि से मिल्टन को मिला है, हिन्दी में वही स्थान केशव को दिया जाता है। मिल्टन की रचनाओं में विचारों की जैसी गंभीरता है, कल्पना की जैसी उड़ान है, शैली की जैसी क्लिष्टता है, केशव मे भी वैसी ही बातें हैं। हिन्दी के वह मिल्टन हैं। उनमें दोनो प्रकार का सामर्थ्य है—भावात्मक भी और व्याख्यात्मक भी। उनकी परिस्थितियाँ व्याख्यात्मक काव्य के अनुकूल थीं, इसलिए उनकी भावात्मक प्रतिभा को विकास का अवसर नहीं मिला। फिर भी कविता के जिस पक्ष को उन्होंने अपनाया उसे उन्होंने अपने आचार्यत्व से चमका दिया। इस सम्बन्ध मे हिन्दी-संसार उनका आभार स्वीकार करता है और सूर तथा तुलसी के पश्चात् उन्हे तीसरा स्थान देकर सम्मानित करता है।

६- महाकवि बिहारीलाल

जन्म सं० १६५२ मृत्यु सं० १७२१

जीवन-परिचय

महाकवि विहारीलाल का जन्म ग्वालियर राज्य मे संवत् १६५२ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार को हुआ था। इसका उल्लेख कविवर अम्बिकादत्त व्यास ने अपने विहारी-विहार मे इस प्रकार किया है:—

संवत् जुग सर रस सहित भूमि रीति गिनि लीन।
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमे विधि दीन॥

अर्थात् जुग=२, सर=५, रस=६, भूमि=१ जो अङ्कानां वामतो गतिः के अनुसार संवत् १६५२ होता है। विहारी सतसई में एक दोहा है:—

जन्म लियो द्विजराज-कुल, सबस बसे व्रज आय।
मेरो हरौ कलेस सब, केशव केशव राय॥

इस दोहे से यह ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम केशवराय था। वह धौम्य-गोत्रीय, श्रोत्रिय चतुर्वेदी माथुर थे। कहा जाता है कि सम्वत् १६६० के लगभग वह ग्वालियर से ओरछे चले आये। यहाँ उन्होंने केशवदास से भेंट की। उस समय केशव की काव्य-कला एवं पाण्डित्य की हिन्दी ससार मे धूम थी। अतः केशवराय ने अपने पुत्र विहारीलाल को काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए केशवदास के सुपुर्द कर दिया। बिहारी मे प्रतिभा थी, इसलिए थोड़े ही दिनोंमें

उन्होंने केशवदास से काव्य-रचना-सम्बन्धी बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

केशवराय थोड़े ही दिनों तक ओरछा में रहे। केशवदास के विरक्त हो जाने पर वह बिहारीलाल के साथ ब्रज चले आये। यहाँ रह कर बिहारी ने साहित्य का अच्छा अध्ययन किया। इस समय उनके कुटुम्ब में चार प्राणी थे—बिहारी, उनके छोटे भाई बलभद्र, बहिन और केशवराय। केशवराय की धर्मपत्नी का देहान्त बहुत पहले हो चुका था। इसलिए वह अपने बच्चों सहित बाबा नागरीदास के साथ यमुना की कछार में कुटी बनाकर रहते थे। बाबा नागरीदास के वह अनन्य भक्त थे। उन्हीं के कहने से उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया। कालान्तर में इन्हीं हरिकृष्ण मिश्र से हिन्दी के उद्भट विद्वान श्री कुलपति का जन्म हुआ। बिहारी का विवाह ब्रज के एक माथुर ब्राह्मण-परिवार में हुआ और उनके भाई बलभद्र का मैनपुरी में। इस प्रकार अपने पुत्रों तथा पुत्री का विवाह करने के पश्चात् केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैरागी हो जाने पर बिहारी का वहाँ रहना असम्भव हो गया। इसलिए वह अपनी ससुराल मथुरा में रहने लगे। कभी-कभी वह अपने पिता से मिलने के लिए बाबा नागरीदास के पास आजाया करते थे।

बिहारी के गुरु बाबा नरहरिदास थे। एक दिन वह बुन्देलखंड से भगवान कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन पधारे और यहाँ आकर बाबा नागरीदास के साथ उनकी कुटी में रहने लगे। नरहरिदास एक वीतराग और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशसा सुनकर तत्कालीन मुग़ल सम्राट जहाँगीर उनसे मिलने आये। सौभाग्यवश इसी समय बिहारी भी वहाँ पहुँच गये। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य बिहारी का उनसे परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को आश्रय मिल गया। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ ने उनका बड़ा सत्कार किया और उन्हें आगरा बुला लिया। यहीं हिन्दी के प्रसिद्ध कवि

अब्दुर्रहीम ख़ानखाना से उनका परिचय हुआ। रहीम बड़े ही गुण-ग्राही और कवियों के लिए कल्पतरु थे। कहते हैं कि उन्होंने बिहारी के एक दोहे पर मुग्ध होकर उन्हें इतनी स्वर्ण मुद्राएँ दी थीं कि वह उनके ढेर में ढक गये थे। अनुमानतः उनका वह दोहा यह था:—

गंग गोंछ, मोछैं जमुन, अधरन सरसुति राग।
प्रगट खानखानान कैं, कामद वदन प्रयाग॥

शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओं से वार्षिक वृत्ति भी मिलती थी। नूरजहाँ की कुचालों से जब शाहजहाँ को आगरा छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा तब बिहारी को भी आगरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। वह फिर मथुरा में रहने लगे। एक बार वह वर्षाशन लेने के लिए जोधपुर गये। उस समय वहाँ के महाराज जसवन्त सिंह बड़े गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी थे। कहा जाता है कि उनका बनाया हुआ भाषा-भूषण वास्तव में बिहारी की रचना है। कुछ लोग जोधपुर में दूहा-संग्रह के नाम से उनकी एक और रचना का उल्लेख करते हैं।

बिहारी के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वह संवत् १६६२ के लगभग वर्षाशन लेने के लिए जयपुर भी गये थे। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में इतने निमग्न थे कि राज्य-काज तक नहीं देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होंने मालिन-द्वारा यह दोहा उनके पास पहुँचा दिया:—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही तें बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि महाराज ने इस दोहे को कई बार पढ़ा और इससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने राज्य-काज की ओर पुनः ध्यान देना आरम्भ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने उनका बड़ा सत्कार किया और उनका चित्र बनवा कर जयपुराधीश के अवरोध-गृह में लगवा दिया। इस

घटना के तीन-चार मास बाद ही रानी अनन्त कुँवरि के गर्भ से राजकुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही आमेर की राजगद्दी के अधिकारी हुए। बिहारी उनके गुरु नियुक्त हुए। इसी समय बिहारी ने सतसई की रचना की। रामसिंह की आज्ञा से बिहारी के दत्तक पुत्र निरंजन कृष्ण अथवा कृष्णलाल ने उनकी सतसई की टीका की।

बिहारी हिन्दू, हिन्दी और हिन्द के पूरे समर्थक थे। जयसिंह के आश्रित कवि होने पर भी उनमें स्वाभिमान की मात्रा का अभाव न था। वह अत्यन्त स्पष्टवादी थे। अपने ७१९ दोहों में उन्होंने जयसिंह की प्रशंसा में ८ या ९ दोहों से अधिक नहीं कहे और इनमें भी उन्होंने महाराज की उचित प्रशंसा की। उनके दोहों में जयसिंह की आलोचना भी मिलती है। औरंगजेब की ओर से शिवाजी को दबाने के लिए जब वह भेजे गये तब बिहारी ने उनकी आलोचना में कहा :—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाजि पराये पानि पर, तू पंछीहु न मारि॥

इस दोहे का महाराज जयसिंह पर गहरा प्रभाव पड़ा। राजकुमार रामसिंह में देश और जाति के प्रति जैसी उदात्त भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं उसका श्रेय बिहारी को ही प्राप्त है।

सतसई समाप्त होने के थोड़े दिनों बाद बिहारी की पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनके भावी जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह संसार से विरक्त होकर आमेर से वृन्दावन चले गये और अपना शेष जीवन वहीं शान्तिपूर्वक भगवद्भजन में व्यतीत करके संवत् १७२१ में परमधाम सिधारे।

बिहारी की केवल एक रचना उपलब्ध है और वह है सतसई। इसमें बिहारी के ७१९ दोहे संकलित हैं। इसके अतिरिक्त रत्नाकर ने बहुत-सी प्रतियों को मिलाकर लगभग १५० दोहे और छाँटे
बिहारी की रचना हैं। सतसई का आरम्भ १६९२ संवत् में हुआ था।
वह बिहारी के कितने दिनों के परिश्रम का फल

है, इस सम्बन्ध मे कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। वर्तमान अनुसन्धानों से इतना अवश्य पता चलता है कि संवत् १७०० मे जब राजकुमार रामसिंह को विद्यारम्भ कराया गया तब उस समय तक सतसई बन चुकी थी और उसके ५०० दोहों का संग्रह करके बिहारी ने राजकुमार को पढ़ाने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। ८ वर्ष मे बिहारी ने केवल ७१६ दोहों की रचना की और कुछ नहीं किया, यह बात समझ में नहीं आती। जो भी हो, अन्य रचनाओं के अभाव मे भी हिन्दी-साहित्य को उनकी रचनाओं पर गर्व है। उनकी रचनाओं का हिन्दी-जगत् मे अत्यधिक सम्मान है। देव के पढ़ने वाले बहुत कम हैं, मतिराम का तो लोग नाममात्र जानते हैं, केशव का प्रचार उनकी क्लिष्ट रचना के कारण कम है, सूर और तुलसी भक्त-मण्डली तक सीमित हैं, पद्माकर अपनी लच्छेदार रचना के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु विहारी की रचनाओं का अध्ययन उनकी साहित्य-सामग्री के कारण होता है। उनकी लोक-प्रियता इतनी अधिक है कि अब तक सतसई की ३८ टीकाएँ हो चुकी हैं। इसमे से २४ गद्यात्मक और १० पद्यात्मक टीकाएँ हैं। २ अनुवाद संस्कृत मे किये गये हैं, एक पद्यात्मक अनुवाद उर्दू में और एक फारसी मे है।

विहारी सतसई मुक्तक काव्य है। मुक्तकों मे कोई क्रम नहीं होता। इसीलिए बिहारी सतसई का कोई निश्चित क्रम नही है। लोगो का कहना है कि सब से पहले औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह ने इसे क्रम-बद्ध कराया था। इसलिए वह आज़मशाही क्रम से विख्यात है। बिहारी ने किस क्रम से इन मुक्तकों का निर्माण किया था, यह अनिश्चित-सा है। अबतक इनके १३-१४ क्रम मिलते हैं जिनमे से ५-६ प्रसिद्ध हैं।

बिहारी सतसई का समाप्ति काल १७०४ माना जाता है। इसी वर्ष महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की लड़ाई पर,

गये थे और वहाँ से विजयी होकर लौटे थे। बिहारी ने इस अवसर पर निम्नलिखित दोहे पढ़े :—

> सामा सेन सयान की, सबै साहि के साथ।
> बाहुबली जय सिंह जू, फतै तिहारे हाथ॥
> यों दल काढ़ैं बलक तैं, तैं जयसिंह भुआल।
> उदर अघासुर कैं परैं, ज्यों हरि गाइ गुआल॥
> घर-घर तुरकिन हिन्दुअनि, देति असीस सराहि।
> पति नु राखि चादर चुरी, तैं राखी जय साहि॥

और अपनी सतसई महाराज को भेंट कर दी।

सतसई मुक्तक काव्य है। इसके बहुसंख्यक दोहों का संकेत राधा-कृष्ण की केलि-क्रीडा की ओर है। उनका प्रयोजन है काव्य-कला का निर्देशन और अलंकारों का संप्रदर्शन। आज़मशाही क्रम के अनुसार प्रारंभिक दोहों का विषय सामान्य है। अगले दोहों में नायिका-भेद वर्णन किया गया है। और तत्पश्चात् रसों का विवेचन है। इस प्रकार के विवेचन में शृंगार रस की प्रधानता है। बिहारी ने अपने शृंगार की योजना में उसके संयोग तथा वियोग पक्ष का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। तीसरे प्रकरण में नख-शिख तथा ऋतु वर्णन है। चौथे प्रकरण में हास्य, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों का विवेचन है। अन्त में नीति और वैराग्य-सम्बन्धी दोहे भी हैं।

बिहारी का समय

बिहारी का समय मुग़ल-साम्राज्य के वैभव का समय था। वस्तुतः वह उसका स्वर्ण-युग था। अकबर की मृत्यु हो चुकी थी। जहाँगीर दिल्ली के राज-सिंहासन पर आसीन था। उसकी शासन-नीति अकबर की शासन-नीति थी। इसलिए मुग़ल-साम्राज्य को हिन्दू-राजाओं की ओर से किसी प्रकार का भय नहीं था। लड़ाई-झगड़े होते अवश्य थे, पर बहुत कम। देशव्यापी विद्रोह दब-से गये थे। किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध तलवार उठा सके। ऐसी

दशा में विलासिता ने वीरता का स्थान ले लिया। राजदरबार विलासप्रियता में निमग्न हो गये। खड्ग की झनकार की अपेक्षा नूपुर की झंकार सुनना ही उनका मुख्य ध्येय हो गया। राजदरबार की इस मनोवृत्ति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। उस समय हिन्दी के कवि प्रायः राजदरबारों के आश्रित होते थे। प्रत्येक कवि अपने प्रतिद्वन्दी से बाज़ी ले जाना चाहता था और अपने आश्रयदाता को येन-केन-प्रकारेण प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए उन्हें संस्कृत और प्राकृत साहित्य में अवगाहन कर रत्नों को नये रूप में रखना पड़ता था। इस प्रकार कविता स्फूर्ति का विषय न बनकर एक आवश्यकता का विषय बन गई थी। खड्ग-वाहिनी भारती लक्ष्मी की दासी बनकर विलासी राजदरबार और नरपतियों के मनोरंजन का साधन हो रही थी। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण नायिका और नायक के रूप में दिखलाये जा रहे थे। रस और अलंकार के लक्षण की आड़ में ब्रज की विरहिणियों के अमर्यादित चित्रण हो रहे थे। भक्त-कवियों में धार्मिक भावना का प्राधान्य था और कवित्व उनके लिए गौण वस्तु थी। परन्तु इस युग के कवियों में कवित्व का प्राधान्य होगया और भक्ति उनकी विलासमयी भावनाओं पर सुन्दर आवरण डालने की वस्तु बन गया। बिहारी इसी युग की उपज थे।

बिहारी के समय तक लक्ष्य एवं लक्षण-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। जायसी का पद्मावत, सूर का सूरसागर और तुलसी का रामचरित मानस ऐसे लक्ष्य ग्रन्थ थे जिन्हें जनता अपना चुकी थी। लक्षण-ग्रन्थों में केशव की कविप्रिया तथा रसिकप्रिया को यथेष्ट सम्मान मिल चुका था। हिन्दी-काव्य की विभिन्न शैलियाँ भी निर्धारित हो चुकी थीं। केशव ने तो अपनी राम चन्द्रिका में प्रायः सभी प्रचलित एवं अप्रचलित शैलियों का समावेश कर दिया था। संस्कृत साहित्य में तो कई सप्तशतियाँ थीं ही, हिन्दी में भी रहीम-सतसई और तुलसी-

सतसई की रचना हो चुकी थी। सारांश यह कि विहारी के समय में हिन्दी का वाङ्मय अधूरा नहीं था।

विहारी का समय हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन के अनुसार रीति काल कहा जाता है। इस काल के विहारी अग्रदूत थे। अपने समकालीन कवियों में उनका एक विशेष स्थान था। शाहजहाँ के दरबार में यद्यपि सुन्दर, दूलह और कुलपति मिश्र इत्यादि का बोल-बाला था, तथापि विहारी की-सी काव्य-प्रतिभा उनमें नहीं थी। शाहजहाँ विहारी को ही अधिक मानते थे। विहारी का समय विहारी की काव्य प्रतिभा के अनुकूल था। उस समय के शान्त और विलास-पूर्ण वातावरण में नायिका-भेद और शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का रंग ही नहीं जम सकता था। विहारी का हृदय शृङ्गार से परिपूर्ण था। इसलिए उसी ओर उनकी कवित्व-शक्ति का सहज विकास हो सका।

विहारी पर प्रभाव

कवि के जीवन-व्यापारों का उसकी रचनाओं पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। वह अपने वातावरण से प्रभावित होकर जब उसका शब्द चित्र उतारता है तब वह उसमें स्पन्दन भर देता है, जान डाल देता है। विहारी के जीवन से उनके काव्य का अधिक सम्बन्ध है। केशवदास के सम्पर्क में आने पर विहारी ने उनसे विधिवत् काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था। इसमें केशव के व्यक्तित्व का, उनके आचार्यत्व का विहारी पर विशेष प्रभाव पड़ा। केशवदास जब तक जीवित रहे, विहारी ने उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी मृत्यु के पश्चात् विहारी ओरछा त्याग कर अपने पिता के साथ व्रज चले गये। यहाँ भी विहारी ने गुरुओं से विधि-विधान के साथ साहित्य का विशेष अध्ययन किया। विहारी के दीक्षा-गुरु का नाम नरहरि दास था। इन्हीं महात्मा के अनुरोध से केशव-दास ने विहारी को अधिक दत्तचित्त होकर पढ़ाया था। इनके गुरु का नाम था सरसदेव जी। सरसदेव जी के परामर्श से विहारी के पिता

जमुना की कछार में कुटी बनाकर सपरिवार रहने लगे। इस प्रकार बिहारी को ब्रज की प्रकृति की गोद में रहकर साधु-सन्तों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। ये साधु-सन्त कृष्ण-काव्य के प्रेमी थे और संगीत के पंडित थे। इसलिए बिहारी की प्रतिभा को विकसित होने का अच्छा अवसर मिल गया। यहीं बिहारी का विवाह भी हुआ। विवाह के पश्चात् बिहारी मथुरा में आकर अपनी ससुराल में रहने लगे, परन्तु यहाँ रहने पर भी वह साहित्यिक विमर्श के लिए साधु सन्तों के पास अवश्य जाया करते थे। इस प्रकार ब्रज-भूमि मे अपने प्रारंभिक जीवन का अधिक भाग व्यतीत करने के कारण बिहारी ने ब्रज भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और ब्रज-वनिताओं के रहन-सहन से उनका अच्छा परिचय हो गया था। यही कारण है कि बिहारी की भाषा में अधिक माधुर्य और लोच है और नारी-सौन्दर्य के प्रति उनका सहज आकर्षण है। उन्हें अपने शृंगार-वर्णन मे जो अभूतपूर्व सफलता मिली है उसका रहस्य इन्हीं परिस्थितियों मे निहित है। वास्तव मे इन परिस्थितियों ने ही उनकी काव्य-प्रतिभा का संस्कार किया और उनकी कल्पना-शक्ति को स्फूर्ति प्रदान की। यदि इन परिस्थितियों का उन पर प्रभाव न पड़ा होता तो बिहारी क्या होते, यह तो कहना कठिन है, परन्तु जिस रूप मे वह आज हिन्दी जगत् मे सम्मानित हैं वह रूप उनका कदापि न होता।

बिहारी की बहुज्ञता

केशव के सम्बन्ध मे यह बताया जा चुका है कि उन्हें कई विषयों की अच्छी जानकारी थी। बिहारी उनके टक्कर के पंडित नही थे, पर जिन विषयों की उन्हे न्यूनाधिक जानकारी थी उनको उन्होंने अपनी मौलिकता से इतना अधिक चमका दिया था कि वह उन विषयों के पंडित जान पड़ते थे। उनकी निरीक्षण शक्ति अद्भुत थी। उन्होंने अपनी इसी शक्ति के प्रयोग से ज्ञान संचय किया था। राजनीति का अध्ययन उन्होंने किसी पुस्तक से नही किया, ज्योतिष का

ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी ज्योतिषशास्त्र के देखने की आवश्यकता नहीं हुई। पर इन दोनों विषयों का ज्ञान उनके इस दोहे से :—

दुसह दुराज प्रजानकों क्यों न बढ़ै दुख दन्द।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि पावस रविचन्द॥

स्पष्ट हो जाता है। उनके वैद्यक का ज्ञान निम्न दोहे से ज्ञात होता है। इसमें श्लेष-द्वारा सुदर्शन चूर्ण की योजना देखिए :—

वह विलसतु नगु राखि कै, जगत बड़ो जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइये, आइ सुदरसन देहु॥

विहारी गणित के आचार्य नहीं थे। एक साधारण विद्यार्थी को गणित का जितना ज्ञान होता है उतना ही विहारी को भी रहा होगा, परन्तु इस विषय का जितना भी ज्ञान उन्हें था उसे उन्होंने अपनी काव्य-कल्पना में इतना आकर्षक बना दिया था कि हिन्दी-संसार को उनके गणितज्ञ होने में सन्देह नहीं हो सकता। निम्नलिखित दोहों में उनकी गणित-सम्बन्धी कल्पना का चमत्कार देखिए:—

कहत सबै, बेंदी दिये, आँकु दस गुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगिनित बढ़त उदोतु॥

× × ×

कुटिल अलक छुटिपरत मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होतु॥

विहारी ने पुराण, सांख्य तथा वेदान्त-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सन्तों तथा महात्माओं के सम्पर्क में आने के कारण उन्हें इन धार्मिक ग्रन्थों के दार्शनिक विचारों का ज्ञान अवश्य प्राप्त हो गया था। इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में भी किया। उनकी रचनाओं में नीति के दोहे भी मिलते हैं। उन्हें विज्ञान का भी साधारण ज्ञान था। नल के पानी से उपमा

देते हुए उन्होंने लिखा है —

नल की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

इन विषयों के अतिरिक्त बिहारी को अन्य सासारिक विषयो का भी यथेष्ट ज्ञान था। पिंगल पर भी उनका अच्छा अधिकार था, परन्तु अन्य छन्दों की अपेक्षा दोहा लिखने में वह अधिक सिद्धहस्त थे। सारांश यह कि केशव की भाँति बिहारी न तो किसी शास्त्र विशेष के पंडित थे और न देव की भाँति उनका अनुभव-क्षेत्र विस्तृत था। बिहारी को अनुभवी साहित्यकारों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उनसे उन्होंने जो कुछ सीखा और समझा था उस पर उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा की छाप लगा दी थी।

बिहारी की कविता

बिहारी सतसई का प्रत्येक दोहा मुक्तक काव्य है। इसमे शृंगार रस प्रधान है। परन्तु कुछ दोहे अन्य विषयो पर भी मिलते हैं। शृंगार के दोनों रूपों—संयोग और वियोग—को लेकर बिहारी ने बड़े चुभते दोहे कहे हैं। इन दोहों का हृदय पर तत्काल और बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। इनमें इतनी मादकता, इतना व्यंग, इतना चुटीलापन और इतनी तीव्रता है कि पाठक का कल्पना-कौतूहल एक साथ जाग्रत होकर, तृप्ति-द्वारा आनन्द मे अपना अवसान करता है। काव्य मे आनन्द का स्वरूप कथन की रसात्मकता है जो विभाव अनुभाव आदि साधनों पर निर्भर रहती है। बिहारी के दोहे इन्ही साधन-रूप परिस्थितियों के वर्णन-द्वारा रसानुभव कराते हैं। अनुभावों तथा सात्विक भावों के चित्रण मे मनोविज्ञान का गौरव भी उनकी रचनाओं मे देखने को मिलता है। यह उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का द्योतक है।

बिहारी ने शृंगार के संयोग पक्ष का अच्छा वर्णन किया है। उसमें सजीवता और जीवन की उछल-कूद भी है। प्रसंग के संकेत-द्वारा औत्सुक्य की ध्वनि देकर उन्होने प्रेमातिशय की व्यजना बड़े

अनूठे ढंग से की है। उनका वियोग-शृंगार भी इसी प्रकार प्रभावशाली हुआ है। उन्होंने विरह-दशा का वर्णन करते हुए शारीरिक व्यापारों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है। देखिए :—

पलनु प्रगटि बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतियाँ छिनकु, छनछनाइ, छिपि जात॥

विहारी ने अपने वियोग में मरण का भी वर्णन बड़ी कुशलता के साथ किया है। परन्तु इस प्रकार के वर्णन में उन्होंने अत्युक्तियों से बहुत काम लिया है। कहीं-कहीं उनकी अत्युक्तियाँ उपहास की मात्रा तक पहुँच गई हैं। ऐसे चित्रण स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक-से प्रतीत होते हैं, परन्तु काव्य-कल्पना और भावों की तन्मयता की दृष्टि से उनमें जो आकर्षण है वह प्रशंसनीय है।

सौंदर्य-वर्णन में विहारी बेजोड़ कवि हैं। स्वाभाविक सौंदर्य के वर्णन में कोई कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। इसलिए उनका नख-शिख वर्णन हिन्दी-साहित्य की एक अनुपम निधि है। इस प्रकार के वर्णन की प्रायः दो शैलियाँ देखने में आती हैं। एक तो केवल अंगों की और दूसरे आभूषण-सहित अंगों की। विहारी ने इन दोनों शैलियों को अपने नख-शिख वर्णन में अपनाया है। वह सहज सौंदर्य के उपासक थे। इसलिए उन्होंने आभूषणों को 'दर्पण के से मोरचे' बतलाकर सौंदर्य में बहुत ही गौण स्थान दिया है। फिर भी भृकुटी, नासिका-वेध, बेसर-मौक्तिक, नासिका-भूषण, अवतंस, ग्रीवा, पयोधर, त्रिवली, जंघा, मुख, पायल, नूपुर आदि के वर्णन बड़े हृदयग्राही हुए हैं।

विहारी ने नायिका-भेद-वर्णन प्राचीन शास्त्रीय विधि पर किया है। अंकुरित यौवना, खण्डिता और मुग्धा के उनके चित्रण बड़े सजीव हुए हैं। इस प्रकार के चित्रण में कला-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष भी अपनी सीमा के भीतर झलकता है। उनके संयोग और वियोग सम्बन्धी जितने भी चित्र हैं वे सब प्राचीन परम्परा के

प्राचीन समय के शास्त्रकारों ने ध्वनि या व्यंग्य को रस की अपेक्षा अधिक प्रधानता दी थी। उनका कहना था कि ध्वनि द्वारा रसोत्पत्ति हो सकती है। उनका यह कथन किसी सीमा तक ठीक भी था। बिहारी इसी सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उनकी रचनाओं में उनका साध्य भाव हमेशा व्यंग है। साधन में कहीं लक्षणा का और कहीं व्यंजना का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपनी प्रतिभा से दोहे जैसे छोटे छन्द में बहुत से भावों को उनके लक्ष्य अथवा अलक्ष्य क्रम से बड़ी कुशलता एवं सुन्दरता से सजाया-सँवारा है। ऐसा करने से उन्होंने भाव संकेतों से बहुत काम लिया है और उनका सफलतापूर्वक निर्वाह भी किया है। कहीं-कहीं ये संकेत अस्पष्ट भी हो गये हैं। इस प्रकार की अस्पष्टता के कारण ही सतसई के टीकाकारों ने उनके कतिपय दोहों के कई अर्थ किये हैं। वास्तव में उनकी दोहा-शैली उनके गभीर भावों को वहन करने के लिए इतनी संकुचित है कि उनके ध्वन्यर्थ को पकड़ने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी दशा में पाठक को विशेष आनन्द नहीं मिलता। उनके कुछ दोहे गणित की समस्या बनकर रह गये हैं।

बिहारी ने प्रकृति के भी चित्र सफलतापूर्वक उतारे हैं। उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य के साथ साथ मानवीय अन्तर्जगत के सौंदर्य का चित्रण भी किया है। भारत में छः ऋतुएँ होती हैं। इन सब का अनूठा वर्णन बिहारी ने बड़े ठाट से किया है। बसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा पावस के अन्तर्गत हिंडोले का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनके ग्रीष्म, शरद, हेमन्त तथा शिशिर के भी वर्णन अत्यन्त चुटीले और चमत्कारपूर्ण हैं।

बिहारी की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। वह काव्य-कला से भी पूर्णतया परिचित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो अलंकार-शून्य हो। कई स्थलों पर तो उन्होंने कई अलंकारों का एक साथ बड़ी सुन्दरता से समावेश किया है। उनकी अलंकार-योजना में स्वाभाविकता

है। अपना पाण्डित्य दिखाने के लिए उन्होंने ज़बरदस्ती अलंकारों को ठूँस कर अपनी कविता-कामिनी का कलेवर बोझिल नहीं किया है। उनके अलंकार उनकी रचना में स्वाभाविक रीति से आये हैं। उनकी बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जो केवल अलंकार-प्रदर्शन के लोभ से की गई हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी चोखी हैं और वह उत्प्रेक्षा के उस्ताद हैं। स्वाभावोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों को भी उनकी रचनाओं में अच्छा स्थान मिला है।

विहारी की रस-योजना में शृंगार की प्रधानता है। यह प्रधानता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि हास्य और शान्त रस भी जहाँ कहीं प्रयुक्त हुए हैं प्रायः इसी की छाया लिये हुए हैं। एक दोहा देखिए :

बहु धन लै अहिसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि॥

इस दोहे में बड़ा ही विकट परिहास है, परन्तु उसे उन्होंने शृंगार के आवरण से प्रच्छन्न-सा कर दिया है। उन्होंने अपने ढलते दिनों में पत्नी की मृत्यु के पश्चात भक्ति-युक्त दोहे भी लिखे थे। वे उच्च कोटि के होते हुए भी बहुत थोड़े हैं।

विहारी की कविता प्रायः वर्णात्मक है। सर्वांगपूर्ण होना ही इस प्रकार की कविता की विशेषता होती है। विहारी ने अपनी तीव्र विवेचन शक्ति से अपनी कविता में काव्य के प्रायः सभी अंगों का यथोचित समावेश किया है। तथा नख-शिख, क्या नायिका भेद, क्या प्रकृति-चित्रण, क्या रस और क्या अलंकार उनकी रचनाओं में सभी कुछ श्रेष्ठ पाया जाता है। उनकी कविता वर्णात्मक होते हुए भी विहारी की कविता में सब से प्रशंसनीय वस्तु है उनकी उक्तियाँ। इन उक्तियों की विदग्धता पाठक के हृदय को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। इनका चमत्कार ही विहारी का विहारीत्व है। उनकी उक्तियाँ काव्य-प्रेमी को सर्वथा रस विभोर करके ही छोड़ती हैं। भक्ति-सम्बन्धी शुष्क एवं नीरस उक्तियाँ उनकी रचनाओं में नहीं मिलतीं।

उनके भक्ति के दोहों में भी रस की मिठास ओत-प्रोत है। उनकी अन्योक्तियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं। इनके विषय मुख्यतः सांसारिक अनुभवों के तथ्य हैं। उन्होंने अपने इस प्रकार के अनुभवों को सीधी सादी भाषा में भी स्थान दिया है। इतना होते हुए भी उनकी रचनाओं में हिन्दू आचार-व्यवहार का वह ऊँचा आदर्श नहीं है जो तुलसी की कविता में देख पड़ता है। उनकी रचनाओं में केवल प्रेम की गूंज है जो काम-वासना से ओत-प्रोत है। उनकी कामिनियों में लज्जा का भाव बहुत कम है। अपवित्रतापूर्ण काम-वासना का ऐसा निःसंकोच वर्णन उस समय के साहित्य की भावधारा के अनुकूल ही कहा जा सकता है।

बिहारी की भाषा और शैली

बिहारी की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी इस प्रकार लिखते हैं:—"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रज भाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत कर दिया है। यह बात बहुतों में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है। और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्द का भी प्रयोग किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी मुक्त है। वस्तुतः बिहारी की भाषा बड़ी कोमल, सरस और सजी हुई है। उसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की, बुन्देलखण्डी, डिंगल और आवश्यक प्रान्तीय शब्दों का भी मिश्रण है। बिहारी की भाषा में भरती के शब्द नहीं हैं। उनकी रचनाओं में शब्द नपे-तुले और आवश्यकतानुसार हैं। उन्होंने शब्दों का चुनाव अपने भावों के अनुसार किया है। उनके शब्द अपने स्थान से हटाये नहीं जा सकते। यदि किसी शब्द के स्थान पर उसी भाषा का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो यह निश्चय है कि दोहे का साहित्यिक सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और उसके माधुर्य में

फीकापन आ जायगा। विहारी की भाषा में सब से बड़ी बात यह है कि वह अल्पाक्षरा होते हुए भी वृहत् अर्थ को सँभाले हुए है। उनकी रचना में मनोभावों का प्रतिविम्ब निर्मल आरसी की भाँति पड़ता है। भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में विहारी का वही स्थान है जो अवधी में तुलसी का।

विहारी के समय से व्याकरण का अनुशासन भाषा पर होने लगा था, परन्तु वह इतना दृढ़ न था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कई जगह लिंग-विपर्यय भी उपलब्ध हैं। उन्होंने एक शब्द का कहीं पुल्लिंग प्रयोग किया है और कहीं स्त्री लिंग। इस दोष के रहते हुए भी उनकी भाषा प्रभावशाली और मुहावरेदार है। जहाँ व्यंग्यार्थ बहुत गहन नहीं है वहाँ प्रसाद गुण अच्छा है, परन्तु प्रसाद की अपेक्षा उनकी भाषा में माधुर्यगुण की मात्रा विशिष्ट है। ध्वनि-साम्य के लिए वर्णमैत्री तो किसी-न-किसी परिमाण में सर्वत्र है जिससे तरह-तरह के अनुप्रासों की उत्पत्ति होती है, परन्तु उनकी रचना में यह मैत्री के उदाहरण भी कम नहीं हैं। प्राकृतिक वर्णनों में विषय की अनुकूलता के लिए भाषा भी प्रायः अपना रूप तदनुसार बदलती है। चित्रोपमता उनकी भाषा का प्रधान गुण है।

विहारी ने मुक्तक काव्य की शैली को अपनाया है। मुक्तक में शिक्षा और नीति के उपदेश तथा शृंगारी रचनाएँ खूब गँठती हैं क्योंकि इनमें पूर्वापर प्रसंग बहुधा सापेक्ष नहीं रहते। इस सम्बन्ध में सब से बड़ी बात यह है कि जब उसमें मानव-जीवन के किसी अंग को लेकर अथवा किसी प्रकार के व्यंग का आश्रय ग्रहण करके कुछ कहा जाता है तब उसमें भाव उद्रेकता और प्रभावोत्पादकता आती है, अन्यथा सरसता से वह बहुत दूर रहती है। विहारी ने अपने विषय निर्वाचन में मुक्तकों के इस विशेष गुण का बहुत ध्यान रखा है। उन्होंने अपनी काव्य-सामग्री के लिए दोहा-शैली का निर्वाचन किया है और उसमें भाव भरने के लिए समास पद्धति का सहारा लिया है। व्रजभाषा वास्तव

में समास-बाहुल्य का समर्थन नहीं करती। बिहारी ने इसीलिए अपने दोहों में छोटे-छोटे समस्त पद रखे हैं। इससे उनकी भाषा में चुस्ती और भाव-व्यंजकता आ गई है। मुक्तकों में प्रसंग-योजना की पटुता पर कवि की सफलता निर्भर रहती है। यदि प्रसंग रमणीय हो गया और कवि ने उसपर अपनी प्रतिभा की छाप अंकित कर दी तो फिर वह रचना अद्वितीय हो जाती है। बिहारी ने अपने मुक्तकों में ऐसे ही सरस प्रसंगों की योजना की है और इसीलिए उनके मुक्तक इतने प्रसिद्ध हैं।

बिहारी का हिन्दी साहित्य में स्थान

बिहारी की रचनाओं के सम्बन्ध में इतनी आलोचना करने के पश्चात् यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है। बिहारी रीतिकालीन शृंगारी कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में रीति-कालीन समस्त परम्पराओं का बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। नायिका भेद, ऋतु वर्णन, नख-शिख वर्णन, शृंगार के संयोग और वियोग-पक्षों का वर्णन आदि में उनकी काव्य-कला का चमत्कार अत्यन्त सराहनीय है। उनकी रचनाओं में कवित्व शक्ति और काव्य रीतियों का इतना सुन्दर संमि-श्रण है कि वह एक साथ ही आचार्य और कवि माने जा सकते हैं। उनके काव्य का विषय है जीवन की दैनिक साधारण घटनाएँ। इन घटनाओं को उन्होंने शृंगार के रंग में रंग कर इतना सजीव बना दिया है कि वे मन को उन्मत्त कर देती हैं। स्वयं प्रेमी होने के कारण प्रेम का रंग चढ़ाने में वह इतने कुशल हैं कि उनकी वर्णित साधारण घटनाएँ भी असाधारण-सी प्रतीत होने लगती हैं। उनके दोहों में प्रेम का उफान है, प्रेम की ज्वाला है, प्रेम का उन्माद है। प्रेम की विशद व्याख्या उनकी रचनाओं में नहीं है, परन्तु इस सम्बन्ध में उनका जितना भी साहित्य है वह उच्चकोटि का है। उनकी सतसई का कोई दोहा व्यर्थ नहीं है। इसीलिए उनके दोहों के सम्बन्ध में

किसी कवि ने कहा है :—

सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

विहारी की एक मात्र रचना है सतसई। यह सतसई वास्तव में शृंगार रस का भी शृंगार है। इसकी रचना में विहारी ने संस्कृत साहित्य की कतिपय सप्तशतियों का अनुकरण किया है और उनके भाव-सौंदर्य से भी प्रभावित हुए हैं, परन्तु उन्होंने उनसे प्राप्त भावों पर अपनी प्रतिभा की ऐसी अमर छाप लगा दी है कि वे सर्वथा उनके हो गये हैं। उनकी सतसई तुलसी-सतसई और मतिराम-सतसई से भिन्न है। तुलसी सतसई में रामचरित मानस के दोहे हैं और मतिराम-सतसई में रसराज और ललितललाम के दोहे संगृहीत हैं, परन्तु विहारी सतसई उनकी मौलिक और स्वतंत्र रचना है। इस सतसई की देखा-देखी हिन्दी में विक्रम सतसई, वृन्द सतसई, चन्दन सतसई, शृंगार सतसई और वीर सतसई आदि की रचना हुई है, परन्तु विहारी की सतसई इन सतसइयों में अपना निजी महत्त्व रखती है। हृदय को गुदगुदाने की उसमें जैसी अद्भुत शक्ति है वैसी किसी भी सतसई में नहीं है। उसकी लोकप्रियता इतनी अधिक है कि अन्य भाषा के साहित्यकारों ने भी उसे अपनाने की चेष्टा की है। उनकी सतसई में उर्दू भाषा की गज़लों की चुलबुलाहट है, फ़ारसी साहित्य के भावों की-सी सुकुमारता। इसलिए उर्दू-साहित्य-प्रेमियों को विहारी की रचनाओं में विशेष आनन्द मिलता है।

विहारी अपने समय के बेजोड़ कवि हैं। उनकी समता करने वाला यदि उस समय का कोई कवि हो सकता है तो वह हैं देव। देव की रचनाएँ विशाल हैं, विहारी ने केवल एक सतसई लिखी है, परन्तु उन्होंने अपनी सतसई में देव के लिए कोई मौलिक स्थान नहीं छोड़ा है। देव के सामने विहारी थे, पर विहारी के सामने उनकी टक्कर का कोई शृंगारी कवि नहीं था। हिन्दी साहित्य के पुनीत क्षेत्र में विहारी

ने स्वयं अपना निर्माण किया। उन्होने अपनी भाषा को सँवारा, अपनी शैली को रूप दिया और अपनी प्रखर प्रतिभा से अपनी भावना को वाणी प्रदान करने की चेष्टा की। इसीलिए उनकी भाव-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना, वस्तु-व्यंजना, और रस-व्यंजना में अपनापन है। वह अपने प्रत्येक दोहे में बोलते हुए से जान पड़ते हैं। व्रज और व्रज भाषा के साथ उनका जैसा अभिन्न सम्बन्ध है उसे लक्ष्य करके सतसई के पद्य-टीकाकार कृष्ण कवि ने क्या ही अच्छा लिखा है:—

ब्रजभाषा बरनी कविन, बहु विधि बुद्धि विलास।
सबकौ भूषन सतसई, करी बिहारी दास॥

इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी सतसई हिन्दी साहित्य के शृंगारी भावों की मंजूषा है। इस मजूषा मे ऐसे सुन्दर भाव-रत्न हैं जो साहित्य-कला की कसौटी पर खरे उतरते हैं। अब तक ३८ जौहरी उन रत्नों को परख चुके हैं। भविष्य में कितने और पारखी उनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उनकी परीक्षा करेंगे कोई कह नहीं सकता, परन्तु यह निश्चित है कि उन्हे इस मंजूषा का कोई रत्न खोटा नहीं मिलेगा। यह एक ऐसी बात है जिसके कारण बिहारी पर हिन्दी साहित्य को गर्व है और वह उसका मस्तक ऊँचा उठाये हुए हैं। बिहारी हिन्दी के अमर कवि हैं। हिन्दी मे उनका वही स्थान है जो अंग्रेजी साहित्य मे बायरन का और संस्कृत साहित्य मे अमरुक का है।

७. कविवर भूषण

जन्म सं० १६९२ | मृत्यु सं० १७७२

कविवर भूषण के सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह संदिग्ध है। उनके एक दोहे के आधार पर यह कहा जाता है कि

जीवन-परिचय

उनका जन्म कानपुर ज़िला के तहसील घाटमपुर के यमुनातट तिर्वांपुर (त्रिविक्रमपुर ग्राम) में हुआ था। वह त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कहा जाता है कि वह देवी के बड़े भक्त थे जिसके आर्शीवाद से उनके चार पुत्र—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ उपनाम जटाशंकर—थे। चारों भाई कवि थे। उनमें भूषण वीर रस के बड़े प्रतिभाशाली कवि हुए। उनका जन्म सम्वत अनुमानतः १६९२ माना जाता है।

भूषण बाल्यकाल से ही बड़े स्वतंत्र और उद्दण्ड प्रकृति के थे। आरम्भ में उन्हें सरस्वती से अधिक प्रेम नहीं था। एक विद्वान के घर में जन्म लेने के कारण उन्होंने न्यूनाधिक पढ़ना-लिखना अवश्य सीख लिया था, परन्तु वह उनकी जीविका के लिए पर्याप्त नहीं था। आलस्यपूर्ण जीवन उन्हें प्रिय था। भाई कमाते थे और भूषण मस्त खाते थे। माता-पिता का देहान्त हो चुका था। बाहर भाइयों और भीतर भाभियों का राज्य था। एक दिन उनकी बड़ी भाभी ने अवसर पाकर ऐसा ताना मारा कि भूषण छटपटा उठे। बात सच थी, तीर की

तरह लग गई। वह उत्तेजित हो गये और घर से निकल पड़े। इस साधारण घटना, प्रक्षुब्ध भाभी के उस व्यंगपूर्ण हास्य ने भूषण को भूषण बना दिया।

प्रणवीर भूषण घर से निकल कर यत्र-तत्र विद्याध्ययन करने लगे। इस सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती है। कहा जाता है कि घर से निकलने के पश्चात् भूषण देवी के मन्दिर में गये और वहाँ उन्होंने अपनी जीभ काट कर उस पर चढ़ा दी। उसी समय से उनकी वाणी फूट निकली और वह कवीश्वर हो गये। परन्तु इस कथा का आधार केवल उनकी देवी की भक्ति है। हमारी समझ में अध्ययनकाल ही में भूषण की कवित्त्व शक्ति का उदय हुआ और तभी से वह सुन्दर रचना करने लगे। कालान्तर में उन्हें आश्रयदाता की आवश्यकता पड़ी। उस समय चित्रकूट-नरेश के सुपुत्र रुद्रराम बड़े कविता-प्रेमी थे। भूषण घूमते-फिरते उन्हीं के पास गये। रुद्रराम ने भूषण की प्रतिभा देखकर उनका बहुत सम्मान किया। और उन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि से विभूषित किया। इस उपनाम से वह इतने प्रसिद्ध हुए कि लोग उनका वास्तविक नाम ही भूल गये।

रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से भूषण कहाँ गये, इस विषय में लोगों के दो मत हैं। एक मतवालों का कथन है कि वह घूमते-फिरते अपने भाई चिन्तामणि के पास गये जो दिल्ली मे राजकवि थे। उस समय मुग़ल सम्राट औरङ्गजेब था। चिन्तामणि उसी के दरबार में भूषण को ले गये। औरङ्गज़ेब कविता-प्रेमी था। उसके दरबार मे कई राजकवि थे। इसलिए भूषण की प्रतिभा की परीक्षा के विचार से उसने उनकी कविता सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने कहा—"मेरे भाई चिन्तामणि शृंगारी कवि हैं। उनकी कविता सुनकर आप का हाथ ठौर-कुठौर पड़ गया होगा। इसलिए आप अपना हाथ धोकर तब मेरी कविता सुनिए। मै वीर रस की कविता पढ़ता हूँ। मेरी कविता सुनकर आपका हाथ मूँछ पर चला जायगा। हाथ न धोने से मूँछ

अपवित्र हो जायगी।" यह सुनकर औरंगज़ेब ने अविश्वास प्रकट करते हुए कहा—"यदि मेरा हाथ मूँछ पर न गया तो मैं तेरा सिर कटवा लूंगा।" भूषण ने उनकी यह शर्त सहर्ष स्वीकार करली और उसी क्षण वीर रस के छः कवित्त कहे। श्री कुँअर महेन्द्रपाल सिंह का कहना है कि उन छन्दों मे एक छन्द यह भी है:—

कीन्हें खंड-खंड ते प्रचंड बल-वंड बीर,
मंडल मही के-अरि खंडन भुलाने हैं।
लै-लै दंड छंडे ते न संडे सुख रंचक हू,
हेरत हिराने ते कहूँ न ठहराने हैं॥
पूरब पछांह आन माने नहिं दच्छिन हू,
उत्तर धरा को धनी रोपत निज थाने हैं।
भूषन भनत नवखंड महि मंडल में,
जहां-तहां दीसत अव साहि के निसाने हैं॥

ऐसे वीररस परिपूर्ण ओजस्वी कवित्त सुनकर औरंगज़ेब जोश मे आ गया। उसका हाथ मूँछ पर चला गया। भूषण की प्रतिज्ञा पूरी हो गई। उसी दिन से भूषण उसके दरबार में रहने लगे। कुछ समय पश्चात् एक दिन बादशाह ने अपने राजकवियों से अपनी सच्ची प्रशसा सुनने की इच्छा प्रकट की। भूषण ने इस पर किवले की टौर बाप बादशाह शाहजहा, आदि कवित्त पढ़े। इन कवित्तों को सुनकर औरंगज़ेब इतना बिगड़ा कि उसने भूषण को अपने दरबार से तुरन्त निकल जाने की आज्ञा दे दी। उसी समय घर आकर उन्होंने अपनी कबूतरी घोड़ी सजाई और दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया।

दूसरे मत वालों का कथन है कि ऊपर की कहानिया कल्पित हैं। अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भूषण औरगज़ेब के दरबार मे रह चुके थे। ऐसी दशा मे उनका यह अनुमान है कि 'हृदयराम-सुत-रुद्र' के यहां होते हुए वह सीधे रायगढ़ पहुँचे। एक मत और है जो इन दोनों मतों के विरुद्ध है। उसके अनुसार भूषण का

शिवाजी के समय में होना ही संदिग्ध है। जो भी हो, भूषण की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनको मुगल-दरबार की सभ्यता का अच्छा ज्ञान था। दिल्ली-दरबार उनका देखा हुआ था। वह वहां कब गये थे, यह अवश्य निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

भूषण के रायगढ़ पहुंचने के सम्बन्ध में भी एक कथा है। कहते हैं, संध्या समय रायगढ़ पहुंच कर भूषण एक देवालय में ठहरे। दैवयोग से उस दिन शिवा जी भी अपने छद्मवेश में वहीं पहुँचे। भूषण का परिचय पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने शिवा जी सम्बन्धी रचनाएँ सुनने की इच्छा प्रकट की। उस समय भूषण ने यह छन्द पढ़ा:

इन्द्र जिमि जम्भ पर, वाडव सुअम्भ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुलराज है।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदुण्ड पर चीता मृगझुण्ड पर,
भूषन वितुण्ड पर, जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

शिवा जी ने अपनी प्रशंसा का यह छन्द अठारह बार पढ़वाकर सुना। जब भूषण पढ़ते-पढ़ते थक गये और आगे पढ़ने से उन्होने इन्कार कर दिया तब शिवा जी ने अपना परिचय देते हुए उन्हे पुरस्कृत किया और उन्हे अपना राजकवि बना लिया। यही कथा दूसरे लोग दूसरी तरह से कहते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन कथाओं का कोई महत्त्व नहीं है। भूषण शिवा जी के राज कवि थे और वह उनके साथ कई लड़ाइयों में भी गये थे। इन लड़ाइयों का उन्होंने आँखों देखा वर्णन किया है।

भूषण शिवा जी के दरबार में बहुत दिनों तक रहकर सं० १७३१-३२ में अपने घर लौटे। लौटते समय मार्ग में वह छत्रसाल बुन्देला

से भी मिले। उनके दरबार में भी वह कुछ दिनों तक रहे। कहा जाता है कि जिस समय भूषण उनके दरबार से विदा होने लगे उस समय उन्हें सम्मानित करने के लिए उन्होंने भूषण की पालकी का डंडा अपने कन्धे पर रख लिया। भूषण महाराज छत्रसाल की ऐसी नम्रता देखकर "बस, महाराज, बस" कहकर तुरन्त पालकी पर से कूद पड़े और उनकी प्रशंसा में दो-चार कवित्त और पढ़े जो 'छत्रसाल दशक' में संगृहीत हैं।

घर आकर भूषण ने कुछ दिनों तक विश्राम किया। इसके बाद वह कमाऊँ-नरेश के यहाँ गये। वहाँ उनका उचित आदर-सत्कार नहीं हुआ। चलते समय कमाऊँ नरेश ने उन्हें एक लाख रुपया दान में देना चाहा, परन्तु भूषण ने उनका दान स्वीकार नहीं किया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् वह शिवा जी के पास फिर गये और समय-समय पर अपनी रचनाएँ उन्हें सुनाते रहे। इन रचनाओं में से अधिकांश शिवा बावनी में संगृहीत हैं। सं० १७३७ वि० में शिवाजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् भूषण घर लौट आये और कभी-कभी महाराज छत्रसाल के यहाँ जाते-आते रहे।

सं० १७६४ में जब शिवा जी के पौत्र साहु जी को दिल्ली की क़ैद से छुटकारा मिला तब भूषण उनसे मिलने गये। वह साल-डेढ़ साल उनके दरबार में रहे और फिर घर लौट आये। सं० १७६८ में वह बूँदी गये, परन्तु वहाँ के स्वागत-सम्मान से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए वह छत्रसाल से भेंट करके अपने घर चले आये। अन्ततः सं० १७७२ के लगभग उनका स्वर्गवास हुआ।

भूषण की रचनाओं का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार उनके बनाये हुए चार ग्रन्थ—शिवराज-भूषण, भूषण हजारा, भूषण उल्लास और दूषण-उल्लास-

भूषण की रचनाएँ हैं: परन्तु शिवराज-भूषण के अतिरिक्त इनमें से अन्य किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं लगा है।

शिवा बावनी, छत्रसाल-दशक तथा कुछ स्फुट कविताएँ तो समय-समय पर उनके रचे हुए छन्दों के संग्रह मात्र हैं। शिवराज भूषण ही इस समय तक उनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भारतीय इतिहास के कतिपय रहस्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसमें शिवा जी, छत्रसाल, औरंगजेब, अफजल खाँ, कुमाऊँ नरेश, बूँदी नरेश आदि की प्रशंसा में छन्द हैं और रीतिकालीन परम्परा के अनुसार रचे गये हैं। इसका नाम नायक, कवि तथा विषय सभी का द्योतक है।

(२) शिवा बावनी—इस नाम का भूषण ने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं बनाया था। इसमें शिवाजी की प्रशंसा में ५२ कवित्त संगृहीत हैं। इनके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि जब भूषण और शिवा जी की प्रथम भेंट हुई तब भूषण ने छद्मवेशी शिवा जी को ५२ भिन्न कवित्त सुनाये थे। वही ५२ कवित्त शिवा बावनी में दिये गये हैं। परन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने भूषण-विषयक उत्तम-उत्तम छन्द चुनकर इस नाम से उनको पुस्तक रूप में पृथक प्रकाशित करा दिया होगा। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं इन छन्दों में काफी ओज है। अलंकारों के बंधनों के कारण शिवराज भूषण में कवि को जो सफलता नहीं मिली वह उसे इन छन्दों में प्राप्त हो गई है। इनमें वीर, रौद्र, तथा भयानक रस के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं। इन छन्दों का विषय है शिवा जी की सेना का प्रयाण, उसका वैरियों और उनकी स्त्रियों पर आतंक, शिवा जी का पराक्रम, शिवा जी का हिन्दुओं की रक्षा में प्रयत्न। भूषण की प्रतिभा इन छन्दों में खूब खिली है।

(३) छत्रसाल-दशक—यह ग्रन्थ भी संग्रह-मात्र है। इसमें छत्रसाल की प्रशंसा में दस छन्द हैं। इनमें क्रम नहीं है। समय-समय पर इनकी रचना हुई है। इतिहास की दृष्टि से इन छन्दों का अधिक महत्त्व है।

भूषण का समय भूषण की रचनाओं से ही स्पष्ट है। उससे हमें ज्ञात होता है कि उनका समय भारत की हिन्दू जनता के लिए परीक्षा का समय था। राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से यद्यपि यह हिन्दू जाति का पतन-काल था, तथापि इस पतन काल में भी उसमें निर्माण का शिलान्यास हो रहा था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदार नीति का परित्याग कर औरंगजेब ने जिस उद्देश्य से हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू संस्कृति पर प्रहार किया वह उसके प्रतिकूल ही सिद्ध हुआ। हिन्दू जनता में विद्रोह और क्रान्ति की ज्वाला पुनः प्रज्वलित हो उठी और क्यों न उठता। उनके अकारण प्राण लिये जा रहे थे, उनकी माँ-बेटियों की लाज पर आघात हो रहे थे, उनके धार्मिक विश्वासों को ठेस पहुँचाई जा रही थी, उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जा रहा था। एक ओर निरंकुश औरंगजेब की चमचमाती तलवार होती थी और दूसरी ओर मूक हिन्दू जनता। एक ओर राजधर्म के आकर्षक प्रलोभन थे और दूसरी ओर हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास। इन प्रलोभनों में पड़कर, धार्मिक परिवर्तन की आँधी में फँस कर, अपनी प्राण-रक्षा के लिए हिन्दू जाति के कुछ लोगों ने अपना धर्म त्याग दिया था, परन्तु एक बड़ी संख्या ऐसी भी थी जिसने उस अत्याचार और अनाचार की ज्वाला में भी अपनी जाति की, अपने धर्म का, अपनी माँ-बेटियों की रक्षा की और अपनी वीरता और साहस से हिन्दू जाति की शुष्क नसों में रक्त प्रवाहित कर दिया। चेतनाशून्य हिन्दू जाति एक बार फिर इस वीरता से संघर्ष लेने के लिए खड़ी हो गई। पंजाब में सिक्खों ने अँगड़ाई ली, बुन्देलखण्ड में महाराज छत्रसाल ने करवट बदली और दक्षिण भारत में वीर केसरी शिवा जी ने समर्थ-गुरु राम दास की शिक्षा के आलोक में गो, ब्राह्मण और हिन्दुओं की रक्षा के लिए तलवार उठाई। इस प्रकार उस विषम परिस्थिति में, धर्म के उस घात-प्रतिघात में, राजनीतिक सत्ता के उस कोलाहल में

भूषण का समय

हिन्दू विश्वास के अनुसार स्वयं ऐसे कारण उत्पन्न हो गये जिसने हिन्दुओं की तत्कालीन बिखरी हुई शक्ति को रण-चण्डी के इन भक्तो में केन्द्रीभूत कर दिया। इन भक्तो ने अपने नेतृत्त्व मे हिन्दुओं को संगठित किया और उन्हे अपने धर्म पर आरूढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित किया। भूषण त्रिपाठी ऐसे युग की देन थे। उसी युग ने उनके हृदय मे हिन्दू जाति के प्रति प्रेम उत्पन्न किया, उसी युग ने उन्हे साहस और बल दिया, उसी युग ने उन्हे वाणी दी और उसमे वीर रस का सञ्चार किया। इस प्रकार उनकी वीर रसपूर्ण वाणी शिवाजी और छत्रसाल का आश्रय पाकर सहस्त्र मुख से मुखरित हुई और हिन्दू जाति को अमर बनाकर स्वय अमर हो गई।

भूषण का साहित्यिक काल भी दूषित ही था। चारणों के युग का अन्त हो चुका था, भक्ति-काल की परम्पराएँ समाप्त हो चुकी थीं, राम और कृष्ण के गुणानुवाद के स्थान पर राजाओं महाराजाओं के दरबार मे कहीं उनके शौर्य और कहीं नायक और नायिकाओं के प्रेमालिङ्गन की चर्चा हो रही थी। वह शृङ्गार का ही युग था। राजपूत काल की वह वीरता नष्ट हो चुकी थी। हिन्दू नरेशों की तलवारे मन्द पड़ गई थीं। उनमें मोर्चा लग गया। राजपूताना की बड़ी-बड़ी रियासते मुग़ल-साम्राज्य मे सम्मिलित हो अपना मस्तिष्क बेच चुकी थीं और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं। ऐसी रियासतों मे चाटुकारो की कमी नहीं होती थी। इन चाटुकारों में कवियो का प्रमुख स्थान होता था। वे दरबारी कवि कहलाते थे। उनका काम था राजा की झूठी प्रशंसा करना, शृंगारी रचनाएँ सुनाना, शब्दों की कलाबाजी दिखाना और अपना पेट भरना। ऐसे राजकवियों की संख्या भी अधिक थी। उन्ही के अपवित्र हाथों में उस समय का साहित्य था। वही अपने युग के साहित्य के महारथी थे। कविता-कामिनी को अपनी इच्छानुसार अलंकृत करना और फिर उसे किसी दरबार में नचाना यही उनके साहित्य का प्रधान उद्देश्य

होता था। साहित्य के ऐसे पतित युग को ऊँचा उठाने के लिए, भारत की निराश जनता के उत्सुक हृदय में वाणी-द्वारा पवित्र राष्ट्रीय भावनाएँ भरने के लिए आवश्यकता थी एक महासाहित्यिक नेता की। पराजित जनता की इस आकांक्षा को, तात्कालिक साहित्य-चेतना की इस माँग को भूषण ने भारत वसुन्धरा पर अवतीर्ण होकर पूरा किया। उन्होंने शृंगार और अलंकारप्रिय कविता कामिनी को विलासी राज-दरबारों से निकाला और उसे रणचण्डी के वेष में लाकर जनता के समक्ष खड़ा कर दिया। इस प्रकार उस काल में ईश्वर की अनन्त शक्ति दो रूपों में हिन्दू जाति की रक्षा के लिए अवतरित हुई। उस शक्ति का पहला रूप था वीर-शिरोमणि शिवाजी और दूसरा रूप था अमर कलाकार भूषण। एक ने तलवार का आश्रय लिया, दूसरे ने वाणी का। और देखते-देखते दोनों ने समस्त भारत को एक छोर से दूसरे छोर तक आश्चर्यचकित कर दिया। यवन काँप उठे, औरङ्गज़ेब की तलवार मन्द पड़ गई, अत्याचारों की आँधी का अन्त हो गया। जो तूफ़ान तेज़ी से उठा था वह तेज़ी से शान्त भी हो गया।

भूषण की कविता

हम यहाँ बता चुके हैं कि भूषण अपने समय की देन थे। इसलिए हमें उनकी रचनाओं में समय की पुकार मिलती है। अपनी रचनाओं में वह देश-दशा का चित्रण करते हैं, मुग़लों की उच्छृङ्खलता, अनाचार तथा उद्दण्डता का हृदय-विदारक वर्णन करते हैं; शिवाजी, छत्रसाल, बूँदी-नरेश, तथा अन्य कतिपय नरेशों की प्रशंसा करते हैं। इन ऐतिहासिक घटनाचक्रों और अनाचारों से आगे उनकी आँखें नहीं उठतीं। वे गड़ गई हैं ऐसे स्थान पर जहाँ हिन्दू राष्ट्र का कल्याण निहित है, जहाँ उसके जीवन-मरण का प्रश्न हल हो रहा है, जहाँ उसकी माँ-बेटियों की लाज अटकी हुई है। भूषण की चेतना-शक्ति को, भूषण की प्रखर प्रतिभा को उस स्थान से हटने का जी नहीं चाहता। यही तो कवि की तन्मयता का कारण होता है। इसी तन्मयता में डूब कर ही तो

वह राष्ट्र के हृदय को आन्दोलित करने वाले रत्न बीन-बीन कर लाता है। भूषण तन्मय थे अपने युग की माँग को पूरा करने मे। उनकी निगाह शृङ्गार की ओर नहीं गई। उनका विद्रोही हृदय उसे स्वीकार नहीं कर सका। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने कविता की तत्कालीन धारा के प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया। उनकी रचना की यह अद्‌भुत शक्ति है।

भूषण हिन्दी साहित्य के प्रथम राष्ट्रकवि थे। उस साम्प्रदायिक युग मे जब राष्ट्र का वर्तमान रूप नही था तब हिन्दू जाति के लिए भूषण की रचनाओं का राष्ट्रीय महत्त्व ही था। वह तत्कालीन भारत के होमर थे। उनके शब्दो मे अपार शक्ति और उनकी वाणी मे ज्वाला थी। वह हिन्दू जाति की आकाक्षाओं तथा अभिलाषाओं के जागरूक चित्रकार थे। नायक के रूप मे शिवा जी तथा छत्रसाल बुन्देला को उन्होंने स्वीकार करके अपनी रचनाओं मे वस्तुतः हिन्दू-जनता की भावनाओं को ओजमयी भाषा में चित्रित किया है। भूषण मे जातीय भावना प्रधान है। उनकी इस जातीय भावना को आश्रय मिलता है शिवा जी के व्यक्तित्व में। इसीलिए शिवाजी उनकी दृष्टि मे महान हैं। उनके लिए शिवाजी का वही महत्त्व है जो सन्त तुलसीदास के लिए राम का, सूर के लिए कृष्ण का। औरङ्गजेब को भूषण इसीलिए नीचा दिखाते हैं कि वह हिन्दू-जाति का शत्रु है, हिन्दू संस्कृति का वैरी है। भूषण की दृष्टि मे वह राम के प्रतिनायक रावण से किसी बात में कम नहीं है। औरङ्गज़ेब हिन्दू जाति और हिन्दू-संस्कृति के लिए उस समय का रावण और कंस है। उसकी पराजय अवश्यंभावी है। अपनी इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर भूषण ने नायक तथा प्रतिनायक के चित्रण में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। परन्तु वह अतिशयोक्ति ऐसी है जो हमारे मन और मस्तिष्क को नायक के प्रताप और यश से प्रभावित कर देती है। हम उस पर हँसते नहो, उस पर आश्चर्य करते हैं, गर्व से फूल जाते हैं, रोमाञ्चित

हो जाते हैं। उसे पढ़ कर हमारी रग-रग फड़क उठती है, हमारी सुषुप्त भावनाएँ जाग उठती हैं। हो सकता है किसी की दृष्टि में उनकी कविता पोच, अराष्ट्रीय, द्वेष और घृणा से परिपूर्ण हो, परन्तु जो उस समय के वातावरण में पैठ कर हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचारों को भूषण की आँखों और भूषण के हृदय से देखने की जितनी ही अधिक चेष्टा करेंगे, वे उतना ही अधिक भूषण की रचनाओं के महत्व को स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ हो सकेंगे। वह यह समझेंगे कि कवि या साहित्यकार हो कर यदि भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने साहित्य, अपने इतिहास और अपनी कवित्व शक्ति के प्रति अन्याय करते। इस प्रकार का अन्याय उस समय के बहुत से कवियों ने अपने प्रति किया है। उन्होंने अपनी आत्मा का हनन करके, अपनी कवित्व शक्ति को कामी और विलासी राजाओं की प्रसन्नता का साधन बना कर अपयश ही प्राप्त किया है। वर्तमान राष्ट्रीय भावना में विश्वास करने वाले भी उन्हें उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। भूषण ऐसी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। युग के कवियों में उनका सिर सब से ऊँचा है। उनके व्यक्तित्व के आगे कोई टिक नहीं सकता। अपने समय के वह बेजोड़ कवि हैं।

भूषण किसी मत अथवा सम्प्रदाय के प्रति द्वेष नहीं रखते। उन्होंने अपनी रचना में एक भी ऐसे पद को स्थान नहीं दिया है जिसमें उनकी संकीर्ण धार्मिक भावना व्यक्त होती हो। सब धर्मों पर उनकी दृष्टि समान है, परन्तु अपने धर्म से, अपनी जाति से उन्हें विशेष ममता है। इसीलिए वह उसका कल्याण चाहते हैं, उसके उद्धार के लिए वह सतत् प्रयत्नशील हैं। वह उसकी फूट की ओर सब से पहिले अपने साहित्य में संकेत करते हैं। वह कहते हैं 'आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुआन टूटे।' कितनी सत्य आलोचना है यह अपने समाज की! हिन्दी-साहित्य के आदि युग से भूषण तक किसी कवि ने

भी हिन्दू जाति के ह्रास का इस रूप मे अनुभव नहीं किया।

भूषण की रचनाओं में एक बात और है। उनकी रचनाओं मे हमे ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा मे मिलती है। उनमे तिथि और सम्वत् के अनुसार घटनाओ का क्रम नही है, तथापि तत्कालीन कतिपय नरेशो के सम्बन्ध मे मुख्य-मुख्य घटनाओ का उसमे उल्लेख अवश्य है। इन घटनाओं के वर्णन मे उनकी सत्यप्रियता प्रशंसनीय है। उन्होंने उनमे किसी प्रकार की तोड़-मरोड नहीं की और न अपने पास से उसमे कुछ सम्मिलित ही किया है।

भूषण मौलिक साहित्यकार हैं। रीति-काल की परम्पराओ से मुक्त होकर उन्होंने अपने ढंग से कविता-कमिनी की सेवा की है। उनकी भावव्यंजना सरल और सुबाध है। मौलिकता के कारण ही उन्होंने शृंगार-प्रणाली का परित्याग करके नये रसो और नई प्रणालियो को अपनाया है। उनकी अलंकार-योजना भी मौलिक है। उनकी कविता मे न तो पुरानी ही युक्तियो का पिष्टपेषण है और न नवीन युक्तियो की भरमार ही। अपनी मौलिकता मे वह प्राचीन और नवीन दोनो एक साथ है। शब्दों का इन्द्रजाल उनकी रचनाओ का लक्ष्य नही है। उनकी कविता मरी हुई जाति के जीवन के लिए है।

भूषण की अलंकार और रस-योजना

भूषण रीतिकालीन कवि थे। इस काल के कवियों ने काव्य कला को अपनी रचनाओं मे विशेष महत्व दिया और शेष सब बातो की उपेक्षा की। उन्होने अपने मुक्तक छन्दों मे प्रत्येक अलंकार, प्रत्येक नायिका, और प्रत्येक ऋतु का वर्णन किया। सस्कृत साहित्य के कवि और आचार्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। कवि अपने काव्य की रचना करते थे और आचार्य काव्य के कला पक्ष का निरूपण करते थे। परन्तु हिन्दी साहित्य के तत्कालीन कवियों ने एक ही साथ कवि और आचार्य दोनो का एक साथ काम किया। जो कवि था, वह आचार्य भी था। भूषण मौलिक होने पर

भूषण का क्षेत्र उनकी अपेक्षा सकुचित और सीमित है। इसीलिए उनकी अलकार-योजना मे दोष है। हमें उनकी अलंकार-योजना पर रीतिकालीन ग्रन्थों के अनुसार विचार नहीं करना चाहिए; हमें तो केवल यही देखना चाहिए कि अपने उद्देश्य मे कृतकार्य होने के लिए उन्होंने अपनी अलंकार-योजना मे जिन अलंकारों का निरूपण किया है उसमे उन्हें कहाँ तक सफलता मिली है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि उनके शब्दालंकारों और अर्थालंकारों मे प्रयत्न की मात्रा कम और स्वाभाविकता अधिक है। उनके अलंकार हमें खटकते नहीं। उनकी रचनाओं मे भावो की इतनी तीव्रता है कि वे हमे अलंकार-योजना पर विचार करने का अवसर ही नहीं देते। उनके वीरोचित छन्द पढ़ने मे हमारी आत्मा उनकी आत्मा से इतनी घुल-मिल जाती है कि हमारा ध्यान अलकारों पर जाता ही नहीं। फिर भी भूषण के छन्दों मे सानुप्रासता तो सर्वत्र ही है। उनमे स्थान स्थान पर यमक और लाटानुप्रास का भी मनोहर विधान है। देखिए :—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं, कन्द मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूपन सिथिल अंग, भूपन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं ते वै विजन डुलाती हैं।
भूपन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं तें वै नगन जड़ाती हैं।

इसी प्रकार भूपण के अर्थालंकार भी स्वाभाविक हैं। व्याजस्तुति, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो को उन्होंने अपनी रचनाओं मे अच्छा स्थान दिया है। सारांश यह कि भूषण सफल रीतिग्रन्थकार न होकर भी अपनी निर्बन्ध रचनाओं मे अलंकारों का विधान बड़ी सुन्दरता से करते हैं। उनकी रचनाओं मे अलंकारों का पिष्टपेषण

नहीं, वरन् उनकी स्वाभाविक छटा है। उनकी कल्पनाएँ सरल, मौलिक और नवीन हैं।

भूषण की रचनाओं में भयानक, वीभत्स, रौद्र और वीर रस की स्थापना है, परन्तु इन रसों में वीर रस की ही प्रधानता है। वीर रस का स्थायी भाव है उत्साह। शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार, दीनों की दशा, धर्म की दुर्दशा आदि को देखकर जब किसी व्यक्ति के मन में उसका सर्वनाश करने के लिए उत्साह उत्पन्न होता है तब वही उत्साह वीर रस को जन्म देता है। भूषण का उत्साह इसी प्रकार का उत्साह है। उनके नायक हैं छत्रपति शिवाजी और वीर छत्रसाल। शिवा जी को उन्होंने युद्ध, दया, दान, और धर्म वीर के रूप में चित्रित किया है। देखिए :—

भूषण की रस-योजना

[धर्मवीर]

वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।

[दानवीर]

साहि तनै सरजा की कीरति सों चारो ओर,
चाँदनी वितान छिति छोर छाइयतु है।
भूषन भनत ऐसो भूप भौंसिला है,
जाके द्वार भिच्छुक सदाई भाइयतु है।

महा दानि सिवाजी खुमान या जहान पर,
दान के प्रमान जाके यों गनाइयतु है।
रजत की हौंस किये हेम पाइयतु जासों,
हयन की हौंस किये हाथी पाइयतु है।

[दयावीर]

जाहि पास जात सो तो राखि न सकत याते,
तेरे पास अचल सुप्रीति नाधियतु है।
भूषन भनत सिवराज तव कित्ति सम,
और की न कित्ति कहिबे को काँधियतु है।
इन्द्र को अनुज तें उपेन्द्र अवतार यातें,
तेरो बाहु बल लै सलाह साधियतु है।
पायतर आय नित निडर बसायबे को,
कोटि बाँधियतु मानो पग बाँधियतु है।

[युद्ध-वीर]

कोटि गढ ढाहियतु एकै पातसाहन के,
एकै पातसाहन के देश दाहियतु है।
भूषन भनत महराज सिवराज एकै,
साहन की फौज पर खग्ग वाहियतु है।
क्यों न होंहि बैरिन की बैरि-बधू बैरी सुनि,
दौरनि तिहारे कहौ क्यों निबाहियतु है।
रावरे नगारे सुनि बैर वारे नगरन,
नैनं वारे नदन निवारे चाहियतु है।

रौद्र और भयानक रस वीर रस के सहकारी होते हैं। इनमें से भयानक रस का परिपाक भूषण की रचनाओं मे बहुत ही सुन्दर हुआ है। शिवा जी के प्रताप से भयभीत शत्रुओ और उनकी स्त्रियो का चित्र उतारने मे भूषण को अभूतपूर्व सफलता मिली है। रौद्र रस के भी कई पंद बहुत सुन्दर हैं। इन रसो के साथ वीभत्स रस का समावेश

उनकी रचनाओं में हुआ है। इस रस के निरूपण में उनकी कल्पना संयत और वीरता के आवेश से दबी-सी रहती है।

भूषण ने शृंगार पर भी अपनी लेखनी उठाई है। उनके फुटकर पदों में हमें इस रस का परिपाक भी मिलता है और उसमें भी उन्हें विशेष सफलता मिली है। इस से ज्ञात होता है कि भूषण के हृदय में शृङ्गार रस के लिए भी स्थान था, परन्तु उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। वह अपनी परिस्थितियों से विवश थे। उनके हृदय में जो तड़प थी, जो ज्वाला थी, जो वेदना थी उसका वर्णन शृङ्गार रस में नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने इस रस की उपेक्षा की परन्तु जीवन की कोमल घड़ियों में वह इस रस का भी आनन्द लेते थे। शान्त, अद्‌भुत, करुणा तथा हास्य रस के पद भी उनकी रचनाओं में हमें मिलते हैं।

भूषण की शैली वीरोचित शैली है। उनकी रचनाओं में नागरिक तथा प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण नहीं है। उनके वर्ण्य-विषय हैं--युद्ध, शिवा जी का प्रताप, शिवा जी की दानशीलता, शिवा जी का आतंक, शत्रु स्त्रियों की दुर्दशा। इन्हीं विषयों के चित्रण में उनकी शैली का प्रादुर्भाव हुआ है। उन्होंने इन विषयों के निरूपण में मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, हरिगीतिका, मालती, सवैया, किरीट, माधवी, लीलावती, अमृत-ध्वनि तथा गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

भूषण की शैली

युद्ध-वर्णन में भूषण ने कुछ स्थलों पर वीर-गाथा काल की परम्परा के अनुसार अमृतध्वनि छन्द और कुछ स्थलों पर मनहरण कवित्त का प्रयोग किया है। लोमहर्षक युद्ध की भयंकरता दिखाने के लिए अमृतध्वनि छन्द अधिक उपयुक्त होता है, पर जहां साधारण आक्रमण आदि का वर्णन करना अभीष्ट होता है वहीं अन्य छन्दों से भी काम लिया जा सकता है। भूषण ने अपने विषय के अनुसार ही अपने छन्दों की योजना की है।

नायक-यश-वर्णन की दृष्टि से भूषण की रचनाएँ बेजोड़ हैं। केवल यश-वर्णन के लिए भूषण से पहले किसी कवि ने इतना बड़ा ग्रन्थ नहीं लिखा है। इसलिए उनके यशोगान में कोई न कोई विचित्रता, कोई न कोई अनूठापन अवश्य होना चाहिए। भूषण के नायक और प्रतिनायक ज्वलंत हैं। उनके नायक शिवाजी धीरोदात्त श्रेणी के नायक हैं। वह भूषण के लिए अवतारी पुरुष हैं। उनका प्रतिनायक है औरंगजेब, हिन्दू-संस्कृति का वैरी। दोनों के चरित्र-चित्रण में ही भूषण की यश-वर्णन-शैली का रहस्य छिपा हुआ है। इस रहस्य का उद्घाटन तब होता है जब हम यह देखते हैं कि भूषण ने अपने नायक के यश-वर्णन में उनके कार्य की गुरुता को ध्यान में रखते हुए भी प्रतिनायक को साधारण रूप में देखने की चेष्टा नहीं की है। उन्होंने नायक के उत्कर्ष के साथ ही प्रतिनायक के उत्कर्ष को बड़ी सावधानी से चित्रित किया है। इस प्रकार के चित्रण मे उनकी शैली का बल देखने योग्य है। यदि वह अपने प्रतिनायक को साधारण व्यक्ति के रूप में चित्रित करते तो न तो नायक के चरित्र का मनावांछित विकास होता और न शैली मे बल आता। तुलसी का रावण जिस प्रकार विद्वान, बली और कूटनीतिज्ञ है उसी प्रकार भूषण का प्रतिनायक भयकर है। ऐसे भयंकर व्यक्ति से लोहा लेने वाला राम की भाँति शक्ति-सम्पन्न और महायोद्धा होना चाहिए। ऐसा होने पर ही नायक के चरित्र का विकास होता है। भूषण इस रहस्य से परिचित हैं। और इसीलिए उन्हे अपने यश-वर्णन में अभूतपूर्व सफलता मिली है।

भूषण के दान-वर्णन की शैली भी स्वाभाविक है। पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियों की भाँति उनके दान-वर्णन में अतिरंजना नहीं, सत्य है। शिवाजी बड़े दानी थे। भूषण को उनकी दान-शीलता का व्यक्तिगत अनुभव था। इतिहासकारों ने भी उनके दान की प्रशंसा की है। ऐसी दशा में भूषण ने उनके दान-वर्णन की शैली

में अतिशयोक्ति अथवा उच्छृंखलता से काम नहीं लिया है। उनकी शैली उदात्त पर गंभीर है।

आतंक-वर्णन में उनकी काव्य-प्रतिभा अधिक प्रस्फुटित हुई है। उनका आतंक-वर्णन अत्यन्त ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। इस प्रकार के वर्णन में कवि का लक्ष्य वाणी-विलास या अर्थ-प्राप्ति नहीं वरन् शत्रुओं पर नायक की धाक जमाना और विपक्षियों को भयभीत करना है। कवि को अपना यह उद्देश्य चरितार्थ करने में बड़ी भारी सफलता मिली है। इसका कारण कवि की कोरी कल्पना नहीं, वरन् उसका निजी ज्ञान है। उसने अपनी आँखों से शिवाजी के आतंक का विपक्षियों पर प्रभाव देखा है। भूषण की रचनाओं में कोरी कल्पनाएँ कम हैं। उन्होंने कल्पनाओं की ऊँची उड़ान से अपनी कविता को अतिरंजित नहीं किया है। इसलिए उनके आतंक-वर्णन में अतिरंजना कम, यथार्थ अधिक है। जहां उन्होंने आतंक से भयभीत शत्रु की नारियों की दुर्दशा का चित्रण किया है वहां उनका उद्देश्य केवल नायक के आतंक का प्रभाव दिखाना है। भूषण ने प्राचीन परम्परा के अनुसार ही इस शैली का अनुसरण किया है और वह काव्योचित है। इस प्रकार के वर्णन में शैली बलवती होती है और कवि के उद्देश्य को चरितार्थ करने में सफल। इसलिए भूषण को हम इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते।

भूषण की शैली के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से उसकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता और सरलता। भूषण की शैली पाठक को आकर्षित करती है अपने सहज प्रभाव से और उसकी आँखों के सामने वर्णित विषय का इतना सुन्दर चित्र खींच देती है कि वह देखता रह जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण ने जिस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है उसका अन्त तक बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

भूषण की भाषा व्रज भाषा है। पर वह वीर कवि के हाथों में

पड़कर अपनी सहज कोमलता और माधुर्य खो बैठी है। इसलिए भूषण की रचनाओं में हम उसका ओजमय और उद्दण्ड रूप देखते हैं। भाषा का यही रूप वीर रस के अनुकूल होता है। उसमें युद्ध का कोलाहल रहता है, वीरों का दर्प रहता है, बादलों की कड़क रहती है, तलवारों की खड़क रहती है, तोपों का भयानक शब्द रहता है। भूषण की भाषा कुछ इसी प्रकार की है। उसे मुख से कहते ही हमारी रगें फड़क उठती हैं। विपक्षी का हृदय आतंक से भर जाता है।

भूषण की भाषा

भूषण की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा नहीं है। उसमें विदेशी शब्दों की बहुलता है। अपनी आवश्यकतानुसार उन्होंने मुसलमान पात्रों के संसर्ग में, उनके कथोपकथन में, उनके व्यावहारिक जीवन के चित्रण में, तथा उनकी रीति-नीति की अभिव्यंजना में अरबी तथा फारसी के शब्दों का खुल कर प्रयोग किया है। इन भाषाओं के कुछ शब्द तो अपने तत्सम रूप में आये हैं और तोड़-मरोड़ के पश्चात्। कई स्थलों पर तो उन्होंने शब्दों का ऐसा मनमाना रूप कर दिया है कि वास्तविक शब्द का पता लगाना ही कठिन हो जाता है। पादशाह, तसबीह, हज़ार, हासिल, रोज़ा, नमाज़, फ़ौज, गुसुलखाना, अवरंग, कलकान, पिसानी आदि शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है। विदेशी शब्दों से भूषण ने हिन्दी व्याकरण के अनुसार क्रियापद भी बनाये हैं। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी शब्द-योजना में बैसवाड़ी शब्दों को भी स्थान दिया है और कहीं-कहीं क्रियाएँ संस्कृत के मूल रूप से ली गई हैं। इसी प्रकार अवधी, तद्भव तथा ठेठ शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अपभ्रंश और प्राकृतिक शब्दों के प्रयोग से उनकी कुछ रचनाएँ क्लिष्ट भी हो गई हैं। इस प्रकार उनकी भाषा साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है। वह एक प्रकार की खिचड़ी है। इसका एक कारण है और वह यह कि उन्होंने महाराष्ट्र के सैनिकों के उपयुक्त अपनी भाषा को बनाने की चेष्टा की है। महाराष्ट्र में जो शब्द जिस

रूप में व्यवहृत होता था उसको उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी प्रकार रख दिया है। हमारे कानों को उनकी शब्द-योजना इसलिए खटकती है कि हम उसके अभ्यस्त नहीं हैं।

भूषण ने अपनी रचनाओं में यथास्थान लोकोक्तियों और मुहाविरों को भी उचित स्थान दिया है। तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के, तारे सम तारे मूँदि गये तुरकन के, आदि अच्छे मुहावरे हैं। इसी प्रकार उनकी लोकोक्तियाँ—सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी जप के, कालिह के जोगी कलीदे को खप्पर—अत्यन्त चुटीली और सार्थक हैं। इन बातों पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि उनकी भाषा खिचड़ी होने पर भी ओजपूर्ण, चुटीली, और प्रभावोत्पादक है।

भूषण का साहित्य में स्थान

भूषण का हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। उनके अतिरिक्त उनके समकालीन तथा अन्य कवियों ने वीर रस में अपने काव्य की रचना की है, परन्तु उनकी भाषा में न तो उतना ओज है और न उतना उत्कर्ष जितना भूषण की रचनाओं में है। इसलिए भूषण की समता उनसे नहीं हो सकती। इसी प्रकार उस समय के शृंगारी कवि भी उनकी समता नहीं कर सकते। राजाश्रित होने के कारण उनकी रचनाओं में इतनी कामुकता, इतनी विलासिता, इतनी उछलकूद है कि वह जग-जीवन के कल्याण का साहित्य न हो कर व्यक्तिगत मनोरंजन का साधन मात्र है। उनमें न तो जातीयता की चेतना है और न भावनाओं का उच्चता। वीरगाथा काल के द्वितीय उत्थान में लाल और सूदन आदि कवियों ने वीर रस में जो रचनाएँ की हैं वे जातीयता से प्रायः शून्य हैं। ऐसी दशा में केवल भूषण ही अपनी जातीय भावनाओं को काव्य-क्षेत्र में सफलतापूर्वक स्थान दे सके हैं। वह सब से पहले कवि हैं जो हिन्दी में हिन्दू संस्कृति और हिन्दू-सभ्यता के रक्षक के रूप में हमारे सामने आते हैं और हमें उस समय के सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण से परिचित कराते हैं।

वह अपनी रचनाओं से हमारी भावनाओं को जाग्रत करते हैं और उनका सफलतापूर्वक नेतृत्व करते हैं। हमे उनकी रचनाओं मे ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप मे मिलती है। उन्होंने अपनी रचनाओं मे शिवाजी के जीवन का मुख्य-मुख्य घटनाओं का जितनी सुन्दरता एवं सचाई के साथ वर्णन किया है वह भावी साहित्यकारों के लिए आदर्श और गर्व का बात है। उन्होंने कहीं भी भावावेश मे आकर अतिरंजना द्वारा ऐतिहासिक सत्य को विकृत करने की चेष्टा नही की है। उनकी रचनाओं में इतिहास और साहित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। रीतिकालीन कवियों की परम्परा मे साँस लेने वाले कवि के लिए साहित्य के पुनीत क्षेत्र मे इतना सुन्दर अनुष्ठान करना उसके अद्भुत सयम और सत्यप्रियता का यथेष्ट प्रमाण है।

किसी कवि का साहित्य-निर्माण मे स्थान निश्चित करते समय हमें यह भी देखना चाहिए कि उसकी कितनी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। इस दृष्टि से भूषण की समस्त रचनाओं पर विचार करने पर हमे ज्ञात होता है कि उनकी उत्कृष्ट रचनाओं का मध्यम मान अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा अधिक है। उनकी समस्त रचना सार्थक और उद्देश्यपूर्ण है। उनका प्रत्येक पद उनकी कवित्व शक्ति और काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है। उनके प्रत्येक पद मे मौलिकता है, ओज है और तड़प है। उन्होंने जनता की तड़प में अपनी तड़प को, और अपनी तड़प मे जनता की तड़प को इस प्रकार घुला-मिला दिया है कि वह तत्कालीन हिन्दू-समाज की भावना के नेता रूप में हमारे सामने आते हैं। वह मुख्यतः हिन्दू-जनता के कवि हैं। हिन्दू-जनता उनकी ऋणी है और हमारा विश्वास है कि जब तक वह जीवित रहेगी तब तक वह इस अमर कवि का आभार स्वीकार करेगी।

८. कवीश्वर देवदत्त

जन्म सं० १७३०   मृत्यु सं० १८२४

कवीश्वर देवदत्त का जन्म विक्रमीय सं० १७३० में हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा नगर के पंसारी टोला कल्लालपुरा में रहते थे। उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में मतभेद देव का जीवन-वृत्त है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने उनका जन्म-स्थान समाना गाँव माना है। यह गाँव ज़िला मैनपुरी में है। उनके वंशज अब भी मैनपुरी मण्डलान्तर्गत कुसमरा ग्राम में रहते हैं। उनके पिता का नाम प० बिहारीलाल था।

देवदत्त की शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती, परन्तु सरस्वती के प्रसाद से उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही भाव-विलास ऐसे सुन्दर गीति ग्रन्थ की रचना की थी। यह उनकी सं० १७४६ की रचना है। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि देव प्रतिभाशाली कवि थे। उनके समय में मुग़ल-सम्राट औरंगजेब का तृतीय पुत्र आज़मशाह बड़ा ही गुणज्ञ, वीर और साहित्यानुरागी था। देव ने उन्हीं का आश्रय ग्रहण किया। उन्होंने देव का अष्टयाम और भाव विलास सुना और उनकी प्रशंसा की। संवत् १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् राज-सिंहासन के लिए उसके पुत्रों में जो गृह-युद्ध हुआ उसमें आज़मशाह मारा गया। ऐसी दशा में देव का सम्पर्क भी दिल्ली दरबार से छूट गया।

दिल्ली दरबार से अलग होकर देव अपने लिए किसी सुयोग्य गुणग्राही आश्रयदाता की खोज में निकले। कहते हैं कि वह एक बार भरतपुर नरेश महाराज जवाहिर सिंह से भी मिलने गये। उस समय वह डीग के दुर्ग का निर्माण करा रहे थे। उनसे मिलने पर महाराज ने उनसे कविता सुनाने का आग्रह किया। देव कवि सरस्वती के भक्त थे। उस समय उनकी सरस्वती मौन थीं। इसलिए उन्होंने कविता सुनाने से इन्कार कर दिया, परन्तु महाराज के बराबर आग्रह करने पर उन्होंने कई छन्द सुनाये। दुर्भाग्य से उनके मुख से उस समय एक ऐसा छन्द निकल गया जिसका आशय यह था कि डीग-दुर्ग में मनुष्यों के सिर लुढ़कते फिरेंगे। इस आशय का छन्द सुनकर महाराज उनसे असंतुष्ट हो गये, परन्तु कालान्तर में देव की वह भविष्यवाणी सत्य हुई।

देव बड़े स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उस समय के कवियों की भाँति वह अपनी कविता को आश्रयदाताओं की प्रसन्नता का साधन मात्र बनाना नहीं चाहते थे। आश्रयदाता वह चाहते थे अपनी कविता के विकास के लिए। इस उद्देश्य से राजा-महाराजाओं के यहाँ से निराश हो कर उन्होंने अन्त में भवानीदत्त वैश्य का आश्रय ग्रहण किया और उन्हीं के नाम पर उन्होंने भवानी विलास नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके यहाँ भी देव अधिक काल तक नहीं रहे। कुछ समय उन्होंने इटावा के शुभकर्ण सिंह के पुत्र कुशलसिंह सेंगर का आश्रय ग्रहण किया और उनके नाम पर उन्होंने कुशल विलास की रचना की। इसके बाद उनको राजा उद्योतसिंह का आश्रय मिला। वह बड़े साहित्य-प्रेमी थे। देव ने उनके नाम पर प्रेम-चन्द्रिका की रचना की। इन तीनों ग्रन्थों में देव ने अपने आश्रयदाताओं का नामोल्लेख तो किया है, परन्तु उनकी प्रशंसा में छन्द नहीं लिखे हैं। इसका कारण अनुमानतः यह हो सकता है कि उक्त आश्रयदाता उनके विचार से प्रशंसा के पात्र नहीं थे। संवत् १७८३ में देवदत्त को

राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ। भोगीलाल कवि और काव्य-प्रेमी थे। उनके नाम पर देव ने रस-विलास की रचना की। राजा ने उनके इस साहित्यिक कार्य के लिए अच्छा पुरस्कार भी दिया। उनके विषय में देव कहते हैं:—

> देव सुकवि ताते तजे, राव, रान, सुलतान।
> 'रस विलास' सुनि रीझिहैं, भोगीलाल सुजान॥

देव को अपने मनोनुकूल आश्रयदाता कोई भी नहीं मिला। राजा भोगीलाल के यहाँ भी अधिक दिनों तक नहीं रहे। जिस समय उन्होंने शब्द-रसायन की रचना की उस समय वह किसी के आश्रय में नहीं थे। इसलिए वह किसी आश्रयदाता को समर्पित भी नहीं किया जा सका। जाति-विलास भी उनकी ऐसी ही रचना है। इन रचनाओं में आश्रयदाताओं के अभाव के कारण किसी प्रकार की शिथिलता नहीं पाई जाती। कहते हैं अन्त में उन्हें पिहानी-निवासी अकबर अली खाँ का आश्रय मिला। उनका आश्रय मिलने पर उन्होंने उस समय तक की अपनी समस्त रचनाओं को सुखसागर-तरंग-संग्रह का नाम देकर उन्हीं को समर्पित किया। यह घटना सं० १८२४ की बताई जाती है। यही उनका अन्तिम समय भी है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने ९४ वर्ष से अधिक ही आयु पाई थी।

देव ने अपने आश्रयदाताओं की खोज में भारत के विभिन्न प्रान्तों की खूब यात्रा की थी। इससे उनका अनुभवजन्य ज्ञान अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा था। रस विलास में उन्होंने अन्तर्वेद, मगध, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, वृन्दावन, मालवा, अभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्णाटक, सिंध, मरु, गुजरात, कुरु, करवीर, पर्वत, भूटान, कश्मीर और सौवार आदि स्थानों का वर्णन किया है। इससे उनके अनुभव-जन्य ज्ञान की विशालता स्पष्ट है। वह जहाँ गये वहाँ की स्त्रियों को उन्होंने ध्यान-पूर्वक देखा और उनका अत्यन्त रोचक वर्णन किया।

देव बड़े रूपवान व्यक्ति थे। वह पुराने ढंग का बड़े घेर का जामा पहनते थे और सिर पर पगड़ी लगाते थे। उनकी वाणी बड़ी मधुर थी। स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह मानव गुण के सच्चे पारखी थे। उनकी दृष्टि और बुद्धि बड़ी तीव्र थी। वह पात्र देखकर उसकी प्रशंसा करते थे। यही कारण था कि अपने जीवन भर वह आश्रयदाताओं की खोज में इधर-उधर भटकते रहे। भूषण और बिहारी की तरह वह धनवान नहीं थे। उन्होंने जीवन के अनेक कष्ट झेले थे। सरस्वती के उपासक से लक्ष्मी रुठी रहती है, यह कहावत उनके जीवन से भलीभाँति चरितार्थ होती है।

जनश्रुति के अनुसार देव के ग्रन्थों की संख्या ५२ अथवा ७२ बताई जाती है। हिन्दी नवरत्न में उनके २८ ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं जिनमें से १५ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनको मिश्रबन्धुओं को देव की रचनाएँ स्वयं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी समस्त रचनाओं में भावविलास, रस विलास, प्रेम चन्द्रिका, शब्द-रसायन आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट हैं। रस विलास और प्रेम चन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। भाव विलास और सुखसागर-तरंग रसभेद तथा नायिकाभेद के ग्रन्थ हैं। शब्द रसायन उनके आचार्यत्व का ग्रन्थ है। इसमें रस, अलंकार तथा छन्द आदि का मार्मिक विवेचन है। इन समस्त ग्रन्थों से उनकी प्रतिभा और उनके मानसिक क्रम-विकास का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। इनसे पता चलता है कि अपने यौवन काल के शृंगारी कवि देव अपने अन्तिम जीवन में वेदान्ती हो गये थे। नीति शतक और वैराग्य शतक उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि उनके ग्रन्थों में एक दूसरे ग्रन्थ से थोड़ी-बहुत सामग्री लेकर दोहराई गई है। ऐसा अनुमानतः इसलिए किया गया है कि उनके एक ही छन्द में कई सुन्दर भाव, रस, अलंकार आदि का सन्निवेश है। ऐसे छन्दों का उन्होंने उदाहरण देने में आवश्यकता-

नुसार प्रयोग किया है।

हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच पर देव का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुग़ल साम्राज्य अपने उतार पर था। औरंगजेब की राजनीतिक एवं धार्मिक नीति के कारण हिन्दू तथा शिया सम्प्रदाय के मुसलमानों में इतना क्षोभ उत्पन्न हो गया था कि उसके जीवन का उत्तरार्द्ध भाग उन्हें दमन करने में ही व्यतीत हुआ। पंजाब में सिक्ख, तथा दक्षिण में मराठों ने उसकी नीति के विरोध में भीषण रूप धारण कर लिया था और दक्षिण के शिया राज्य—बीजापुर, गोलकुण्डा तथा अहमद नगर उससे लोहा ले रहे थे। ऐसी दशा में सारा भारत उसके विरुद्ध विद्रोह की भावना से भरा हुआ मुग़ल साम्राज्य को अन्त कर देने के लिए तैयार था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके मरते ही मराठे, सिक्ख, राजपूत तथा मुस्लिम सूबेदार स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगे। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में साहित्य की ओर हिन्दू राजाओं का उदासीन होना स्वाभाविक ही था और कदाचित् इसी कारण से देव को किसी बड़े हिन्दू-राज दरबार में आश्रय ग्रहण करने का अवसर नहीं मिला। केशव, बिहारी, और भूषण इस दृष्टि से देव की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली थे। उनका समय मुग़ल साम्राज्य के उत्कर्ष का समय था। भूषण यद्यपि औरंगजेब के ही समय में हुए थे, तथापि महाराष्ट्रप्राण शिवा जी का सहयोग और आश्रय उन्हें प्राप्त हो सका। परन्तु देव के समय में ऐसा कोई भी राजा नहीं था जो उनके समान दानी और काव्य-प्रेमी हो। फलतः देव का सारा जीवन भटकते ही बीता।

साहित्य की दृष्टि से देव का समय उनकी काव्य-प्रतिभा के अनुकूल था। उनके समय में रीतिकाल की शैली परिपक्व हो चुकी थी और व्रजभाषा का साहित्यिक रूप स्थिर हो चुका था। केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम आदि के आचार्यत्व की छाप हिन्दी साहित्य पर लग

चुका थी और रीतिकाल की परम्पराएँ अपने चरम विकास को पहुँच चुकी थीं। अलंकारों और रसों की खूब छान-बीन हो चुकी थी। इसलिए देव का कार्य अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा सरल था। उनके सामने भक्त और रीति काल की उत्कृष्ट शैलियाँ थीं, उच्च भाव थे, गंभीर विचार थे। उनकी प्रतिभा ने इस साहित्यिक सामग्री को अपनाया और उस पर अपनी मौलिकता एवं अध्ययन की छाप लगा दी। इससे देव पूर्ववर्ती तथा अपने समय के बहुत से कवियों से बाजी मार ले गये।

देव वाक्सिद्ध कवीश्वर थे। उनका अध्ययन गंभीर और गवेषणा-पूर्ण था। सस्कृत साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वह हितहरिवंश सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, इसलिए कृष्ण-लीला

देव का व्यक्तित्व

आदि के धार्मिक महत्त्व से भलीभाँति परिचित एवं प्रभावित थे। पौराणिक कथाओं में उनकी आस्था थी। नायिका भेद के वह अद्वितीय आचार्य थे। वह वस्तु का सम्यक् निरीक्षण किया करते थे। आज़मशाह के दरबार से पृथक होने के पश्चात् उन्होंने एक लम्बी यात्रा की थी। इस यात्रा में उन्हे भारत भर मे भ्रमण करना पड़ा था। इससे अन्य कवियों की अपेक्षा उनका अनुभव ज्ञान अधिक बढ़ा चढ़ा था। अपनी यात्रा में उन्होंने स्त्री-प्रकृति का विशेष रूप से अध्ययन किया था और उसके परिणाम स्वरूप उन्होने जाति विलास नाम की एक काव्य पुस्तक भी लिखी थी। उनके इस प्रकार के अनुभव के कारण ही उनके नायिका भेद-वर्णन में विशेषता पाई जाती है। उन्हों ने काश्मीर की किशोरी से लगाकर कहारिन तक का बड़ी सफलतापूर्वक वर्णन किया है। इन रचनाओं से उनकी प्रतिभा और कविता की कारणीभूत साधन-शक्ति का परिचय मिलता है।

देव अपने समय के आचार्य भी थे। रस, अलंकार तथा छन्द-शास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी। इन विषयों का उन्होंने अपनी दृष्टि

से अध्ययन किया था। वह स्वतंत्र विचारक थे। किसी के मत को अपना कर ही उन्हें सन्तोष नहीं होता था। वह आयुर्वेद और ज्योतिष से भी भलीभांति परिचित थे। उनकी रचनाओं में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जो इन शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द हैं। ऐसे शब्दों के उचित् प्रयोग से उनकी कविता में जान आगई है।

देव को इतिहास का अच्छा ज्ञान था। वह न्याय और नीति के पंडित थे। वेदान्त और दर्शन का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। उनका वैराग्य शतक हिन्दी साहित्य का एक अनूठा ग्रन्थ है। उन्हें संगीतशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। जिस प्रकार सूर और तुलसी में संगीत और साहित्य दोनों ही कलाओं का सुन्दर सन्निवेश था उसी प्रकार देव में भी इन दोनों कलाओं का संमिश्रण हुआ था। वह तानसेन से गायक न थे, पर गायन के सिद्धान्तों से अवश्य परि-चित थे। उनका राग रत्नाकर संगीत-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उन्होंने संगीत का सूक्ष्म विवेचन किया है। वह प्रकृति के भी अच्छे निरीक्षक थे। मानव प्रकृति में उनकी गहरी पैठ थी। लोकव्यवहार-नैपुण्य भी उनमें उत्कृष्ट कोटि का था। वह हर तरह के लोगों के सम्पर्क में आ चुके थे। देश की तात्कालिक परिस्थितियों से वह भलीभांति परिचित थे। जहां गये, जिसके सम्पर्क में आये और जिसका आश्रय उन्होंने ग्रहण किया उसका अपने आदर्शों और अपने सिद्धान्तों के अनुसार अध्ययन किया। धन के लोभ में उन्होंने अपने स्वाभिमान का कभी परित्याग नहीं किया। किसी की झूठी प्रशंसा करना उनके काव्य-जीवन का ध्येय न था। वह भारती के सच्चे उपासक और मन-मौजी कवि थे।

व्रजभाषा-काव्य के शृङ्गारी कवियों की रचनाओं में देव की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं का सन्देश प्रेम का सन्देश है। उन्होंने अपनी प्रेम-चन्द्रिका में प्रेम का बड़ा ही सजीव वर्णन कुछ क्रमबद्ध रूप में किया है। प्रेम का लक्षण, स्वरूप,

माहात्म्य, उसके विविध भेद आदि विषयों पर उनकी सहज प्रतिभा का चमत्कार देखने योग्य है। वह वस्तुतः प्रेम के कवि हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने दाम्पत्य-जीवन के विशुद्ध प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार के प्रेम में उषाकाल की प्रभा का प्रभाव होता है, और इसका आदर्श होता है दो आत्माओं का एक हो जाना। स्वार्थ का अभाव ही इसकी विजय है। यह सुन्दर, सत्य, सर्वव्यापी, और अविनाशी है। तभी तो वह कहते हैं :—

मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिकामय,
राधिका हूँ मोहि-मोहि मोहनमयी भई।

× × ×

यों ही मेरो मन मेरे काम को रह्यो न 'देव',
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं।

× × ×

साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं,
नैनन को कजरा करि राखौं।

देव के प्रेम का लक्षण हैः—

सुख दुःख मैं है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥

देव ने प्रेम को पाँच भागों में विभाजित किया है—सानुराग, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य, और कार्पण्य। इन सब भागों का उन्होंने सोदाहरण अनूठा वर्णन किया है। विषयजन्य प्रेम का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है परन्तु ऐसे प्रेम को उन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया है। वह विषयजन्य प्रेम को विष के समान मानते हैंः—

विषयी जन व्याकुल विषय देखैं विषु न पियूष।
मीठी सुख मीठी जिन्हें, जूठी ओठ मयूष॥

देव पवित्र दाम्पत्य-प्रेम के समर्थक हैं। उन्होंने पुरुषों को पर-नारी-विहार से विरत कराने के लिए पर-नारी-संयोग की तुलना कठिन योग

से की है। उनका यह कहना कि 'भूले हू न भोग, बड़ी विपति वियोग विथा, जोग हू ते कठिन सँयोग परनारी को' इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि वह अपने प्रेम-वर्णन में कामुकता के विरोधी हैं। उन्होंने जिस प्रकार पुरुषों को पर-नारी-संयोग में सचेत किया है, उसी प्रकार वह नारी-समाज को भी पातिव्रत धर्म का पालन करने के लिए आदेश देते हैं। नारी जाति के लिए परकीयत्व कलंक है। देव उसके घोर विरोधी हैं। उन्होंने अपने नायिका भेद में ही आचार्यत्व के नाते परकीया के प्रेम का वर्णन किया है। उनके मतानुसार उत्तम शृंगार रस का आधार स्वकीया नायिका है और उसी का प्रेम शुद्ध सानुराग प्रेम है। स्वकीया में भी वह मुग्धा में ही आदर्श प्रेम पाते हैं। मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम आदर्श प्रेम नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि देव का प्रेम-वर्णन भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुकूल है। उसमें अस्वाभाविकता नहीं, उछल-कूद नहीं; तूफान नहीं। वह है संयत, सीमित और मर्यादापूर्ण।

देव ने प्रेम के सहायक मन और नेत्र का भी आकर्षक वर्णन किया है। वह मानवी प्रकृति के सच्चे पारखी थे। उन्होंने मन और नेत्र की विविध गतियों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया था। इसीलिए वह उनके चित्रण में सफल भी हुए। वह अपने मन के सच्चे मित्र थे। कहते हैं:—

मोहि मिल्यो जब तें मन-मीत, तजी तब तें सबतें मैं मिताई।

देव अपने इसी मन-मीत के कारण किसी आश्रयदाता के मित्र नहीं बने। ऐसा स्वाभिमानी था उनका मन। फिर भी उन्होंने अपने मन को कभी माणिक के रूप में और कभी दलाल के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने उसको चेतावनी भी दी है, और उसकी कोमलता की मोम, नवनीत एवं घृत से तुलना भी की है। उन्होंने उसकी चंचलता, विषय-तन्मयता आदि वृत्तियों का भी सजीव चित्रण किया है। विषयासक्त मन की उन्होंने घोर निन्दा की है। इस प्रकार उन्होंने मन के

विविध रूपों पर प्रकाश डाल कर अपनी प्रगाढ़ काव्य-चातुरी का परिचय दिया है।

नेत्रो के वर्णन मे भी उनकी काव्य-प्रतिभा का हमें ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। कविगण प्रायः जिन-जिन पदार्थों से नेत्र की उपमा देते हैं उन सभी से उन्होने एक ही स्थान पर उपमा दे दी है। उन्होने अपने नेत्र-वर्णन मे आँखों से सखी का भी काम लिया है। उनकी अँखियाँ कहीं मधुमक्खिका हैं तो कहीं मतंग —

सखियाँ ह्वै मेरी मोहि अँखियाँ न सींचतीं, तौ
याही रतिया मैं जाती छतिया छ्टूक ह्वै।

× × ×

वेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

× × ×

'देव' दुख मोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं।

यह तो हुआ देव का प्रेम-वर्णन। विरह-वर्णन मे भी देव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनका विरह-वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और विदग्धतापूर्ण है। उसमें दीनता का विनीत स्वर है, सन्ताप की ज्वाला है, नैराश्य की सुषमा का प्रदर्शन है, रमणीय रोष का उद्गार है। कोमलता की कूक और अतुल प्रेम की हूक है। विरह की जितनी दशाएँ हो सकती हैं उन सब पर कवि का ध्यान समान रूप से गया है और उनका वर्णन वेदनापूर्ण हुआ है। उनके वर्णन मे अतिशयोक्ति के साथ-साथ स्वाभाविकता भी पाई जाती है। उनके पूर्वानुराग, प्रवास, मान आदि के वर्णन बड़े ही अनूठे हुए हैं।

देव का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनके काव्य की इति-श्री संयोग और वियोग के वर्णन से ही नहीं हो जाती। उनकी रचनाओ से हमें उनके संसार-ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इसका कारण है उनकी बहुदर्शिता। उनका दृष्टि-क्षेत्र उनके परवर्ती कवियों

की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है उन्होंने भारत के विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण किया था। इसलिए उनका तत्सम्बन्धी अनुभव काल्पनिक न होकर वास्तविक था। वह प्रेम और सौन्दर्य के चित्रकार थे। नारी के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उन्होंने प्रत्येक देश की युवतियों का जैसा मोहक वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अपनी यात्राओं में केवल धनी लोगों के प्रासादों में ही सौन्दर्य नहीं देखा, निर्धन के नग्न निवास-स्थानों पर भी उनकी दृष्टि गई थी और उन्होंने वहां भी सौन्दर्य प्राप्त किया था। वह समदर्शी थे। निम्नश्रेणी की जातियों में भी वह एक सत्कवि के समान कविता-सामग्री प्राप्त कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने जहां कश्मीर की सुन्दरी का वर्णन किया है वहां एक कहारिन के हाव-भाव भी उनकी काव्य-प्रेरणा के आधार बन सके हैं।

समय का वर्णन भी देव की रचनाओं में हुआ है। उनका ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल और अत्यन्त उत्कृष्ट है। उनके 'अष्टयाम' में घड़ी-पहर तक का विशद विवेचन किया गया है। उत्सवों का वर्णन भी हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। उन्होंने प्रकृति के चित्र भी बड़ी सफलतापूर्वक अंकित किये हैं। बाह्य जगत के इन विशद व्यापारों के साथ-साथ उनकी दृष्टि साधारण बातों की ओर भी गई है। पतंग का उड़ना, फिरकी का नाचना, आतशबाजी का छूटना, बरात का सत्कार, हिन्दू घरों के रीति-रिवाज, आदि का उन्हें अच्छा ज्ञान है। देव की निरीक्षण शक्ति अद्भुत है।

शृंगारिक चमत्कार के साथ देव में ज्ञान और वैराग्य की छाया भी मिलती है। अपनी उठती अवस्था में उन्होंने शृंगार को अपनाया, पर जीवन की संध्या में उन्होंने वैराग्य के गीत गाये हैं। उनकी कविता में ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान और मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी मिलता है। अपने 'देव चरित्र' में उन्होंने ईश्वर के अवतार और साकारोपासना का विशद विवेचन किया है। देव-माया-

प्रपंच-नाटक भी उनकी एक धार्मिक रचना है। 'वैराग्य शतक' में निराकारोपासना और वेदान्त का निदर्शन भलीभाँति किया गया है। ईश्वर का विराट रूप उनकी इस रचना में देखने योग्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर की आराधना करते हुए भी वह आत्मिक सत्ता की ओर बढ़े हैं। वह संसार को उपदेश देते हैं कि पार्थिव सौन्दर्य पर स्वर्गीय सौन्दर्य की छाप अवश्य होनी चाहिए। उनकी रचनाओं में जगत् की अनित्यता का उपदेश है, और भ्रान्त जीव को पार्थिव सौन्दर्य की आराधना से हटाकर लोकोत्तर सौन्दर्य में लीन कर देने की शक्ति है। जीवन के प्राकृतिक व्याख्यान मे भी उनकी पहुँच है। उन्होंने प्रेम, और तत्सम्बन्धी भावों के एक-एक पहलू को खूब परखा है और उसे अपनी प्रतिभा की कूँची से चमका दिया है। पर जीवन की आचार-सम्बन्धी व्याख्या मे वह खरे नहीं उतरे हैं। वह इस कला मे प्रवीण नहीं हैं। जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण उनकी रचनाओं मे नहीं है। फिर भी हम यह कहेंगे कि उन्होंने जीवन के जिस पहलू के चित्र उतारे हैं वे सत्य हैं, खरे हैं, निर्दोष हैं। उन्होंने नवीन मार्ग का अनुसरण किया है और उसमे उन्हे सफलता भी मिली है। छन्द की रचना मे, विशेषणो की छाँट मे, तुलनाओं की खींच मे, कल्पनाओ की सृष्टि मे, रूपकों के आयोजन में, घरेलू कहावतों की खोज मे, नायिकाओं के हाव-भाव-प्रदर्शन मे, संयोग और वियोग के स्वाभाविक वर्णन में और दाम्पत्य-प्रेम के निरूपण में वह अपने समय के कवियो मे अद्वितीय हैं, अमर हैं।

देव का आचार्यत्व

देव अपने समय के आचार्य भी हैं। काव्य-कला के सच्चे पारखी होने के नाते उनके आचार्यत्व में अपनापन है। इसमे सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए संस्कृत साहित्य से सामग्री ग्रहण की है, परन्तु उसे उन्होंने मौलिकता की खराद पर चढ़ा उसपर अपनी मुद्रा अंकित कर दी है। उनकी रचनाओं मे संस्कृत

साहित्य की जो भी सामग्री मिलती है वह है अपने सहज सौन्दर्य के कारण। देव ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए कोरे अनुवाद रूप में उसे नहीं अपनाया है। 'शब्द रसायन' उनके आचार्यत्व का यथेष्ट प्रमाण है। इस ग्रन्थ में उन्होंने शब्द शक्ति पर विचार किया है, परन्तु उनकी विचार-शैली प्राचीन आचार्यों से भिन्न है। संस्कृत साहित्य में आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियां मानी हैं जिनके नाम हैं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। देव ने इनके साथ 'तात्पर्य्य वृत्ति' का भी उल्लेख किया है। तात्पर्य्य वृत्ति का अर्थ है, वाक्य के भिन्न पदों के वाच्यार्थ को एक में सम्मिलित कर देना। प्रकारान्तर से यह भी अभिधा शक्ति है, परन्तु यह वाक्यगत है। इसी प्रकार उन्होंने नव रस के स्थान पर छः रस ही माने हैं, परन्तु रसराज शृङ्गार ही को माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रस के सम शत्रु और मित्र की कल्पना भी की है। अपने 'भवानी विलास' नाम के ग्रन्थ में उन्होंने वीर रस के तीन ही भेद किये हैं—युद्धवीर, दयावीर और दानवीर। धर्मवीर की गणना उन्होंने नहीं की है। संस्कृत के आचार्य तेंतीस संचारी भाव मानते हैं परन्तु देव चौंतीस। उनका चौंतीसवाँ संचारी भाव है छल। अपने भाव—विलास' में उन्होंने दो प्रकार के रसों की कल्पना की है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रसों को उन्होंने स्वप्न, मनोरथ और उपनायक, और लौकिक रसों को परम्परागत नव भेदों में विभक्त किया है। शृङ्गार रस के भी उन्होंने भेद-विभेद किये हैं।

इसी प्रकार देव की अलंकार-योजना भी संस्कृत साहित्य के आचार्यों से भिन्न है। अपने 'भाव प्रकाश' में उन्होंने ३९ अलंकार और अपने 'शब्द रसायन' में ७० अलंकारों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। उपमा अलंकार का निरूपण उन्होंने सविस्तार किया है और अन्य अलंकारों का संक्षेप में। उन्होंने अपने पिंगल में छन्दों का निरूपण भी बड़ी सुन्दरता से किया है। चित्र काव्य के अन्य अंग मेरु, मर्कटी, पताका आदि से भी उनका परिचय है।

रीतिकालीन परम्परा के अनुसार उन्होंने नायिका-भेद भी लिखा है। सुख सागर तरंग, सुजान विनोद, भाव विलास तथा रस विलास में उन्होंने नायिकाओं का वर्णन अपने निजी ढंग से किया है। चित्रोपमता उसका विशेष गुण है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने निजी अनुभव से बहुत लाभ उठाया है। इसलिए उनके नायिकाभेद मे वास्तविकता अधिक और कल्पना कम है। उनका नख शिख और ऋतु-वर्णन भी रीतिकालीन परम्परा के अनुसार अत्यन्त सराहनीय है। कहने का तात्पर्य यह कि देव कवि और आचार्य दोनों रूपों मे समान हैं।

देव की भाषा और शैली

देव की शैली रीतिकालीन शैली है। उन्होंने दोहा, कवित्त, और सवैयों मे अपने भावों को व्यक्त किया है। इनमें घनाक्षरियों की संख्या अधिक है। उत्तमता मे भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। उनकी समस्त कविता मे कहीं भी कोई बुरा छन्द नहीं मिलता। उन्होंने एक ही छन्द मे विविध काव्यांगों का जैसा सुन्दर संमिश्रण किया है वैसा अन्य कवियों के कई छन्दों मे भी नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में ओज है, चोज है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, समाधि, कांति आदि उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं। उनके प्रायः प्रत्येक छन्द में कई प्रकार के अलंकार, गुण, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि, भाव, वृत्ति और रस पाये जाते हैं।

देव की रचना मे शब्दाडम्बर बहुत कम है। उन्होंने अपनी रचनाओं मे भाषा पर उतना बल नहीं दिया जितना भाव पर। वास्तव मे भावसबलता ही उनकी रचना का विशेष गुण है। फिर भी श्रुति-कटु शब्द उनकी रचना मे नहीं के बराबर हैं। उनके विशेषण बड़े लम्बे होते हैं। 'नूपुर-संजुत, मंजु मनोहर, जावक रंजित कंज-से पायन' मे उनके विशेषणों की छटा देखी जा सकती है। अशिष्ट एवं ग्रामीण शब्दों की संख्या उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत कम हैं।

देव की भाषा विशुद्ध ब्रज-भाषा है। वह बड़ी ही श्रुतिमधुर है। उसमें मिश्रित वर्णन एवं रेफ-संयुक्त अक्षर कम हैं। टवर्ग का प्रयोग भी उन्होंने कम किया है। प्रान्तीय भाषाओं—बुन्देलखंडी, अवधी, राजपूतानी आदि—के शब्दों का व्यवहार भी उन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा न्यून मात्रा में किया है। उनकी कविता में पदमैत्री तथा यमक और अनुप्रास मिलाने का चमत्कार अच्छा दिखलाया गया है। पदों के बीच में अनुप्रास मिलाने के लिए एक से शब्दों को लाना उनकी भाषा की एक विशेषता-सी है। इसी कारण उन्होंने शब्दों की खींच तान और तोड़ मरोड़ भी नहीं की है। उनकी भाषा उनकी नायिकाओं की भाँति सालंकार है। अनुप्रास के फेर में पड़ने के कारण कहीं-कहीं उनके भाव अस्पष्ट और कठिन भी हो गये हैं। इसलिए उनकी भाषा में रसार्द्रता, चलतापन और स्निग्ध-प्रवाह कम है। अक्षर-मैत्री के हिसाब से उन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द भी रखने पड़े हैं। इससे अर्थ और तड़क-भड़क में भी भद्दापन आ गया है। परन्तु जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से हो पाया है वहाँ की रचना सरस हुई है। उनकी ऐसी रचनाएँ मादकता का वातावरण उपस्थित करती हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी काव्य-भाषा मँजी हुई ब्रज-भाषा है। अपने काव्य-कौशल से उन्होंने साहित्यिकता और ब्रज भाषा का स्वरूप ही निखार दिया है। शब्द-निर्माण में भी वह सिद्धहस्त हैं। शब्द का सुन्दर चयन तथा अलंकारों की सुन्दर योजना, भाव और भाषा का सुन्दर सामंजस्य उनकी रचना की मुख्य विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा टकसाली कही जा सकती है। उनकी रचनाओं में मुहाविरों और लोकोक्तियों का भी सम्यक् व्यवहार सराहनीय हुआ है।

देव के काव्य के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् अब हम उनके काव्य की बिहारी के काव्य से तुलना करेंगे और यह देखेंगे कि महाकवियों के दृष्टिकोण, रचना-शैली एवं काव्य-कुशलता में

क्या अन्तर है। कवि की हैसियत से देव बिहारी से ही टक्कर ले सकते हैं। दोनों ही शृंगारी कवि हैं। एक ही युग मे दोनो देव और बिहारी का जन्म हुआ है। दोनों रीतिकालीन कवि हैं। परन्तु बिहारी ने देव से प्रायः २५ वर्ष पहले कविता की है। देव के पहले केशवदास, मतिराम, भूषण, बिहारी, सेनापति, आदि कवि हो चुके थे। उनकी कविताओं का आदर्श हिन्दी जगत पर स्थापित हो चुका था और उनकी रचनाएँ समादृत हो चुकी थीं। इसलिए देव को उन कलाकारों की रचनाओं से पूरा लाभ उठाने का अवसर मिला। बिहारी के सामने काव्य का इतना उच्चादर्श न था। इसलिए बिहारी उसका उपयोग भी न कर सके। बिहारी को अपनी काव्य-भूमि स्वयं जोतनी-बोनी पड़ी। उन्होंने अपने काव्य की सामग्री संस्कृत साहित्य से ली और उसे अपने ढङ्ग से सजाकर हिन्दी-काव्य-प्रेमियों का मनोरंजन किया। उनमे मौलिकता थी, काव्य-कुशलता थी, भावों और भाषा को मिलाने की क्षमता थी। देव में भी इन काव्य-शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, परन्तु उनकी स्थिति बिहारी की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक थी। इसीलिए उनकी रचनाओं मे हमें अधिक भाव-साम्य मिलता है। हम यह नहीं कहते कि उन्होने चोरी की। किसी कवि के भावों को ग्रहण करना चोरी नहीं है। चोरी है उनको ज्यों-का-त्यो रख देना। देव की मौलिकता की विशेषता इसी मे है कि उन्होंने दूसरे के भावो को पचाकर उन्हें अपना बना लिया है। बिहारी ने भी ऐसा ही किया है, परन्तु कहीं-कहीं देव इस दिशा मे उनसे आगे हैं। उनकी रचनाओं मे मानव-प्रकृति का जैसा सुन्दर चित्रण हमें मिलता है वैसा बिहारी में नहीं है। मानव-प्रकृति का अध्ययन बिहारी की अपेक्षा देव मे अधिक है। देव का ज्ञान अनुभव-जन्य है, बिहारी का शास्त्रीय। देव ने दुनिया देखी है। उन्होंने भारत के प्रमुख प्रान्तों का भ्रमण किया है और वहाँ के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य से प्रभावित हुए हैं। संसार के अन्य साधारण व्यापारों का भी

उन्हें अच्छा ज्ञान है। इसीलिए उनके काव्य-विषय अधिक हैं। परन्तु इतना होते हुए भी बिहारी सांसारिक ज्ञान में देव से आगे हैं। बिहारी को देव की अपेक्षा संसार का अच्छा ज्ञान है। उनका प्रकृति का ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा है। इसीलिए उनके प्रकृति-वर्णन उत्कृष्ट हुए हैं।

देव का प्रेम-निरूपण बिहारी की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है। बिहारी के प्रेम-निरूपण में परकीया की छटा अधिक है। देव के प्रेम-निरूपण में स्वकीया का महत्त्व है। उन्होंने परकीया के प्रेम की निन्दा की है। राधा और कृष्ण दोनों कवियों की रचनाओं के प्रमुख आलम्बन हैं, परन्तु बिहारी की रचना में जहाँ राधा और कृष्ण का प्रेम परकीया का रूप धारण कर लेता है, वहाँ देव की रचनाओं में उनका प्रेम दाम्पत्य जीवन तक ही प्रायः सीमित रहता है। परकीया का प्रेम भी उनकी रचनाओं में है, परन्तु वहाँ उन्होंने केवल रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण किया है। उनका आदर्श प्रेम दाम्पत्य प्रेम ही है। इसीलिए उन्होंने राधा-कृष्ण के साथ-साथ माता सीता और राम की वन्दना भी की है। बिहारी की अपेक्षा देव का प्रेम-निरूपण अत्यन्त विशुद्ध और उज्ज्वल है। उनके प्रेम की व्यंजना में सतियों के प्रेम की गूँज है। वह इन्द्रिय-जन्य सुखों को तुच्छ समझते हैं। बिहारी में इन्द्रियजन्य सुख अधिक है।

देव और बिहारी दोनों उच्च कोटि के शृंगारी कवि हैं, परन्तु दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। देव की रचनाओं में संयोग-शृंगार का चित्रण प्रशंसनीय हुआ है। उन्होंने शृंगार का, आनन्द का बड़ा मोहक वर्णन किया है। उनके वियोग-शृंगार में वह बात नहीं आने पाई है। बिहारी ने वियोग-शृंगार की बड़ी ही सुन्दर तस्वीर उतारी है। उनके वियोग-शृंगार की पावक-ज्वाला में हृदय को पिघलाने की अद्भुत शक्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके इस प्रकार के चित्रण में कल्पना का आधिक्य होने के कारण अस्वाभाविकता अधिक आ गई है, परन्तु इस दिशा में उनकी काव्य-कला का स्फुरण

प्रशंसनीय हुआ है। देव का वियोग-शृंगार उनके संयोग-शृंगार के आगे दब-सा गया है। उनका मान वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट है। 'बड़े-बड़े नयनन से आँसू भर-भर डारि, गोरो गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात' मे थोड़ी अत्युक्ति अवश्य है, परन्तु इस वर्णन में जो काव्य-सौन्दर्य और तन्मयता है वह अत्युक्ति को सामने नहीं आने देती।

देव और बिहारी दोनों सौन्दर्य के कवि हैं। बिहारी ने नख-शिख के सौन्दर्य के अतिरिक्त व्यापक सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है, परन्तु वह अपने इस प्रकार के वर्णन मे अलंकारों के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी रचनाओ मे आभूषणों का स्थान बहुत-नीचा है। कृत्रिम मंडन के वह समर्थक नहीं है। शरीर की सहज शोभा के आगे अलंकारों की शोभा उनकी रचनाओं मे मन्द है—'दृग-पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज' मे भूषण का जो स्थान है उससे अलंकारों के सम्बन्ध मे बिहारी का आदर्श स्पष्ट है। एक दोहा और लीजिए :—

तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग।
नहिं सोभा को साज यह, कहिबे ही को अंग॥

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी स्वाभाविक सौन्दर्य के पक्षपाती हैं। देव भी बिहारी के समान ही स्वाभाविक सौन्दर्य के समर्थक हैं, परन्तु उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को अलंकारों से सजाने की भी चेष्टा की है। एक छन्द लीजिए :—

माखन सो मन, दूध-सो जोबन, है दधि से अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत-सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै, कवि देव, बुझावत बैन बियोग-अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ, क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥

इसमे रसीली ग्वालिन के सहज सौन्दर्य के साथ-साथ कविता-कामिनी का शृंगार भी देखने योग्य है। देव की रचनाओ मे आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य दोनो हैं। बिहारी में केवल बाह्य सौन्दर्य है।

आन्तरिक सौन्दर्य की ओर उनकी इतनी दृष्टि नहीं गई है जितनी देव की। देव में आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक है।

रीतिकालीन कवि होने के नाते देव और बिहारी दोनों ने अपनी कविता-कामिनी को अलंकारों से सजाने की चेष्टा की है। बिहारी की रचनाओं में अत्युक्तियाँ अधिक हैं, नाक, कान, तरयौना, मुक्तन, आदि शब्दों के श्लेष से बहुत लाभ उठाया गया है। उनकी रचनाओं में शब्दजाल बहुत है। देव की रचनाओं में अनुप्रास, उपमा, और स्वभावोक्ति अधिक है। बिहारी में भावों और कल्पनाओं की छटा अधिक और अलंकारों की कम है। देव में भाव, कल्पना और अलंकार तीनों का सुन्दर सम्मिलन है। देव ने स्वभाव और उपमा अलकारों को मुख्य मानते हुए भी अन्य प्रकार के अलंकारों का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। उनकी कथन-शैली सांगोपांग है। बिहारी के पास सांगोपाग वर्णन के लिए स्थान नहीं है, पर मुख्य बातें वह छोड़ना भी नहीं चाहते। ऐसी दशा में उन्होंने सकेतों का सहारा लिया है। देव भी सकेतों से काम लेते हैं पर बिहारी की अपेक्षा कम।

देव और बिहारी दोनों अपने समय के आचार्य हैं। पर देव का आचार्यत्व बिहारी के आचार्यत्व से श्रेष्ठ है। देव का काव्यांग-वर्णन इतना उत्कृष्ट है कि रीति काल का कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सकता। बिहारी ने भावों के भेद और उदाहरण अवश्य सुन्दर लिखे हैं, पर उनमें आचार्यत्व की ध्वनि नहीं है। बिहारी पहले कवि और फिर आचार्य हैं। देव आचार्य और कवि दोनों एक साथ हैं। देव बहुज्ञ हैं। संगीत, ज्योतिष, इतिहास, वैद्यक आदि शास्त्रों का उन्हें अच्छा ज्ञान है। उनका काव्य-कला का अध्ययन भी प्रशंसनीय है। उनकी अलंकार और रस-योजना भी महत्वपूर्ण है। छन्दशास्त्र पर जितना अधिकार देव का है उतना बिहारी का नहीं है। बिहारी ने केवल दोहों में अपने काव्य की रचना की है। देव ने रीतिकालीन

सभी छन्दो को अपनाया है। विहारी की अपेक्षा देव को अपने छन्दों में भाव भरने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ा है। इन बातो से उनके आचार्यत्व का यथेष्ठ प्रमाण मिल जाता है।

देव और बिहारी दोनो बहुदर्शी और प्रतिभासम्पन्न कवि हैं, पर देव में विहारी की अपेक्षा व्यापक बहुदर्शिता और विस्तृत अनुभव अधिक है। इसका पूर्ण प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओ पर पड़ा है। देव ने बिहारी की अपेक्षा अधिक भ्रमण भी किया था। उन्होंने संसार को घूम-फिर कर अपनी आँखों से देखा था। अपने देशवासियों का रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, उनका खान-पान, उनका पहनावा, उनके घरों की स्त्रियों की चाल-ढाल आदि देखने का उन्हे अपनी यात्रा मे अवसर मिला था। इसलिए उनकी कविता के विषय भी बिहारो की कविता के विषय से संख्या में अधिक हैं।

रचनाओं की सख्या की दृष्टि से देव बिहारी से बहुत आगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बिहारी सतसई हिन्दी जगत में देव की रचनाओं की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है, पर केवल इसी आधार पर देव की रचनाओं का मूल्य घटाया नहीं जा सकता। देव ने बिहारी से दस गुना अधिक लिखा है और जितना लिखा है वह सब का सब बिहारी की रचनाओं से किसी भी दृष्टि से कम महत्व का नही है। बिहारी ने एक सतसई लिखी ७१६ दोहों की, देव ने लगभग ५२ या ७१ काव्य-ग्रन्थ लिखे। सतसई इसलिए लोकप्रिय होगई कि वह प्राप्य थी। देव की अधिकाश रचनाएँ तो अब तक अप्राप्य हैं। उनकी रचनाएं समुद्र के समान विस्तृत हैं। उस ओर-छोर खोजना, फिर उसे मथकर निकालना सरल काम नहीं था। इसलिए कवियो और साहित्य-प्रेमियों ने देव को जहाँ का तहाँ ही रहने दिया। बिहारी प्राप्य थे, उनमे आनन्द की सामग्री थी, इसलिए कलाकार और टीकाकार उन्हें लेकर आगे वढ़ गये। यदि यह बात न होती तो १६ वर्ष की अवस्था में भाव-विलास, अपने यौवन-काल मे शब्द रसायन और वृद्धावस्था में नीति

शतक एवं वैराग्यशतक लिखने वाला कवि कभी भुलाया नहीं जा सकता था। देव वस्तुतः पक्षपात के कारण नहीं, वरन् उपेक्षा के कारण हिन्दी में लोकप्रिय न हो सके। देव का साहित्य मधुर जल का सागर है, विहारी का साहित्य सरोवर। दोनों में गोता लगाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक अपनी सीमा के भीतर बड़ा है। परन्तु जहाँ देव की रचनाओं से देव की प्रतिभा का विकास सिद्ध होता है, वहाँ विहारी की रचनाएँ एक ही केन्द्र पर सीमित हैं। उन्होंने कुछ नीति के दोहे अवश्य कहे हैं पर उनमें वैराग्यशतक और नीतिशतक की-सी विचार धारा नहीं है।

भाषा के प्रयोग में भी देव विहारी से पीछे नहीं हैं। विहारी की सतसई में बुन्देलखंडी, राजपूतानी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द अधिक व्यवहृत हुए हैं। देव की कविता मे ऐसे शब्दों का मध्य-मान कम है। विहारी और देव दोनों का ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार है, परन्तु जहाँ विहारी मे शब्दों का तोड़-मरोड़ है, वहाँ देव की ब्रजभाषा अपने विशुद्ध रूप में है। उन्होंने अनुप्रास की छटा दिखाने के लिए नवीन शब्दों का निर्माण भी किया है। उनकी रचनाओं में मुहावरो और लोकोक्तियों को भी सम्यक स्थान मिला है और अशिष्ट एवं ग्रामीण शब्दों का बहिष्कार-सा किया गया है। उन्होने कवित्त और सवैयों मे अपने काव्य की रचना की है। इन छन्दों में दोहों की अपेक्षा उन्हे शब्दो का अधिक प्रयोग करना पड़ा है, फिर भी उन्होंने व्यर्थ के शब्दों से अपने भावों को सजाने की चेष्टा नहीं की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन वाटिका के देव और विहारी दोनों सुन्दर पुष्प हैं और दोनों अपनी-अपनी सुगन्ध के अनुसार आकर्षक और मोहक हैं। साहित्य-प्रेमी अपनी अपनी रुचि के अनुसार उनका महत्व आँकते हैं। जिसे जो भाता है वह उसका प्रशंसक हो जाता है, परन्तु काव्य-कला और आचार्यत्व की दृष्टि से देव विहारी से आगे हैं, इसमे किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

अब हमें देव के आचार्यत्व और कवित्व की तुलना एक ऐसे कलाकार से करनी है जो उसी समय का है और हिन्दी साहित्य में अपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए प्रख्यात है। यहाँ हमारा

देव और केशव

तात्पर्य केशव से है। देव की भाँति केशव भी रीतिकालीन शृंगारी कवि हैं और काव्य-कला के आचार्य भी हैं। केशव पहले हुए हैं और देव उनके बाद। जिस समय देव ने कविता करना प्रारंभ किया, उस समय केशव को स्वर्गवासी हुए ७० वर्ष बीत चुके थे। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में केशव के काव्य की अच्छी ख्याति हो चुकी थी। हिन्दी-संसार पर उनके पाण्डित्य का सिक्का जम चुका था। वह थे भी इस योग्य। संस्कृत भाषा के वह अद्वितीय पंडित थे। उन्होंने जिस समय कविता करनी आरंभ की, उस समय सूर, तुलसी, कबीर आदि की रचनाएँ ही हिन्दी-साहित्य का सर्वस्व थीं। काव्य-कला का कोई ग्रन्थ नहीं था। केशव ने अपने पाण्डित्य से इस अभाव को दूर किया। उन्होंने स्वयं संस्कृत-साहित्य का आश्रय लेकर इस मार्ग को प्रशस्त किया और रसिकप्रिया तथा कवि-प्रिया की रचना की। उनकी कविप्रिया कालान्तर में हिन्दी-कवियों की पथप्रदर्शिका बनी। उसे पढ़कर कितने ही कवि हो गये। देव को यह गौरव प्राप्त न हो सका। उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब हिन्दी साहित्य के पुनीत क्षेत्र में सूर और तुलसी अपनी भक्ति-भावना का परिचय दे चुके थे और केशवदास तथा मतिराम आदि के आचार्यत्व की धूम थी। इसलिए केशव की अपेक्षा देव का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त था। उन्हें संस्कृत-साहित्य की ओर झुकने की अधिक आवश्यकता नहीं हुई। संस्कृत साहित्य का उन्होंने उतना ही अध्ययन किया जितना उनके आचार्यत्व के लिए पर्याप्त था। उन्होंने अपने इस अध्ययन पर मौलिकता की छाप अंकित करके उसे हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित किया। केशव ऐसा न कर सके। उनके लिए ऐसा अवसर भी नहीं था। उनकी मौलिकता तो केवल इसी बात तक

सीमित रह सकी कि उन्होंने संस्कृत-साहित्य की रीतियों को ज्यों का त्यों हिन्दी-साहित्य में उतार दिया। उनकी रामचन्द्रिका मे एक नहीं, अनेक अंक ऐसे हैं जो प्रसन्न राघव के अनुवाद मात्र हैं। इन रचनाओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनमे मौलिक होने की क्षमता ही नही थी। यदि रीति-ग्रन्थों मे उन्हें मौलिक होने का अवसर नहीं था, तो वह अपने महाकाव्य मे मौलिक हो सकते थे। देव मे यह बात नहीं है। उनमे मौलिकता अधिक है। केशव मे आचार्यत्व-गुण विशिष्ट है तो देव मे कवित्व-गुण विशिष्ट है।

केशव का काव्य अलकार-प्रधान है। अलंकार-निर्वाह उनका मुख्य लक्ष्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का सुन्दर चमत्कार उनके काव्य में अपूर्व है। सन्देहालंकार का विकास उनके काव्य मे अत्यन्त प्रशंसनीय हुआ है। इसके विपरीत देव का काव्य रस-प्रधान है। उनका लक्ष्य रस का परिपाक है। रसों मे शृंगार उनका प्रधान विषय है। रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, उपमा, स्वाभावोक्ति आदि अलंकार उनकी रचनाओं मे भी मिलते हैं पर उनसे रस-परिपाक मे बाधा नही पड़ती। केशव अपने अलंकार-विधान में रस-परिपाक की चिन्ता नहीं करते। इस प्रकार एक काव्य मे अलंकार-योजना का समर्थक है और दूसरा रस-योजना का। यही कारण है कि देव की रचनाएँ केशव की अपेक्षा अधिक सरस और मधुर हैं।

केशव और देव दोनों का विचार-क्षेत्र विस्तृत है। केशव की विज्ञान-गीता और देव का नीति एवं वैराग्य-शतक इस बात को प्रमाणित करते हैं कि दोनों ने धार्मिक एवं शास्त्रीय विषयों पर भी बड़ी गंभीर दृष्टि से विचार किया है। केशव को रामचन्द्र का इष्ट था और देव को कृष्ण का। देव ने राम और सीता की वन्दना भी की है। केशव अपनी रचनाओं में अधिक ऐतिहासिक हैं; देव भावात्मक। देव की रचनाएँ संगीतमय भी हैं। केशव के भाव नियमों का समर्थन करते चलते हैं। देव के भाव स्वच्छन्द हैं। नियम उनका आवश्यकतानुसार

पथ-प्रदर्शन करते हैं, उनको अपनी परिधि में सीमित नहीं करते। केशव ने महाकाव्य और मुक्तक की रचना की है, देव ने केवल मुक्तक की। केशव पहले आचार्य हैं और फिर कवि। देव कवि और आचार्य दोनों हैं। केशव की छन्द-योजना भी देव की छन्द-योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

केशव और देव दोनों व्रजभाषा के कवि हैं। केशव ने अपनी भाषा में संस्कृत और बुन्देलखंडी शब्दों को अत्यधिक स्थान दिया है। इससे उनकी कविता में व्रजभाषा की सहज माधुरी लुप्तप्राय हो गई है। उसमें प्राण नहीं, उसका केवल ढाँचा रह गया है। उनकी भाषा में संस्कृत साहित्य के प्रभाव से मीलित वर्ण तथा टवर्ग भी प्रयुक्त हुए हैं। देव की भाषा में यह बात नहीं है। इससे उनकी भाषा में ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों का समावेश हो सका है। केशव की भाषा क्लिष्ट भी है। संस्कृत के पंडित होने के कारण उनकी भाषा व्याकरण-संगत है। उन्होंने शब्दों का रूप परिवर्तन भी कम किया है। देव की भाषा न तो उतनी व्याकरण-संगत है और न रूप-परिवर्तन से उतनी अछूती। देव की भाषा सरल अवश्य है। केशव की भाषा में पांडित्य की आभा अधिक है। उसमें उनका प्रयत्न है, स्वाभाविकता नहीं है। इसीलिए प्रवाह भी कम है। देव की भाषा में अपेक्षाकृत प्रवाह अधिक है। वह शुद्ध व्रजभाषा है।

देव का हिन्दी-साहित्य में स्थान

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव अपने युग के महान कलाकार केशव और महाकवि बिहारी दोनों से सफलतापूर्वक टक्कर ले सकते हैं। वह एक ही साथ केशव और बिहारी दोनों हैं। उनमें केशव का निखरा हुआ आचार्यत्व है, और बिहारी का परिमार्जित काव्य-कौशल भी है। वह अपने काव्य में दोनों का प्रतिनिधित्व बड़ी सफलतापूर्वक करते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में दोनों को पचा-कर ऐसा रूप धारण कर लिया है कि वह किसी से मिलते-जुलते नज़र

नहीं आते। उनका मार्ग भिन्न है, उनके विषय भिन्न हैं। उनकी शैली किसी की शैली से मेल नहीं खाती, उनकी भाषा किसी की भाषा से समता नहीं रखता। उनकी अलंकार और रस-योजना भी पृथक है; इसका कारण उनकी मौलिकता है। देव अपने वर्ग के समस्त कवियों से अधिक मौलिक हैं। उनकी रचनाओं में विकास है, काव्य-प्रतिभा की अद्भुत आभा है। जिस विषय को उन्होंने उठाया है उसे उन्होंने अपनी सहज प्रतिभा से चमका दिया है। उनकी समस्त रचना उत्कृष्ट है। उन्होंने बिहारी और केशव से अधिक ही लिखा है। जीवन के अन्तरंग और बहिरंग का चित्रण भी उनके काव्य में दर्शनीय है। मानव-प्रकृति में उनकी गहरी पहुँच है। युवतियों के हाव-भाव का उन्हें अनुभव-जन्य ज्ञान है। उन्होंने दुनिया देखी है। भारत का भ्रमण उनके बराबर किसी कवि ने नहीं किया है। प्रकृति-निरीक्षण भी उनका सराहनीय है। संगीत, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण आदि का उन्हें सम्यक ज्ञान है। उनका विचार-क्षेत्र भी विस्तृत है। उनके प्रेम-निरूपण में सतियों का स्वर है। उनकी रचनाओं से पुरुष और नारी दोनों को विशुद्ध प्रेम की शिक्षा मिलती है। वह कवि-कर्म को समझते हैं। धन की उन्हें परवाह नहीं; प्रशंसा की उन्हें चिन्ता नहीं। स्वाभिमानी वह इतने हैं कि किसी की अनुचित प्रशंसा करके धन लेना वह अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते हैं। उनकी दिव्य-दृष्टि भी सराहनीय है। अपने यौवन में वह रसिक हैं और अपनी वृद्धावस्था में वह वेदान्ती। संक्षेप में देव रीतिकालीन आकाश के सूर्य हैं। उनमें महाकवि के सभी लक्षण हैं और इसलिए हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय है।